₹ 200/-

अतिथि संपादक
विजय क्रान्ति

संरक्षक मण्डल
श्री लक्ष्मीनिवास झुनझुनवाला
श्री रघुपति सिंघानिया
श्री गोपाल जीवराजका
श्री आलोक बी. श्रीराम
श्री महेश गुप्ता
श्री रवि विग
श्री अनिल खेतान
श्री ललित कुमार मल्होत्रा
श्री सुबोध जैन
श्री सुदर्शन सरीन
श्री प्रदीप मुल्तानी

संपादक मंडल
श्री राम बहादुर राय
श्री अच्युतानंद मिश्र
श्री बलबीर पुंज
श्री अतुल जैन
डॉ. भारत दहिया
श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

वर्ष-41, अंक-1 जनवरी-मार्च 2020

त्रिविष्टप विशेषांक-1

संपादक
डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

प्रबंध संपादक
श्री अरविंद सिंह
arvindvnsingh@gmail.com

सज्जा
श्री नितिन पंवार
nitin_panwar@yahoo.in

मुद्रण
कुमार ऑफसेट प्रिंटर्स
381, पटपड़गंज औद्योगिक क्षेत्र,
दिल्ली-110092

प्रकाशक
एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002
दूरभाष : 011–23210074
ईमेलः manthanmagzin@gmail.com, ekatmrdfih@gmail.com
Website: www.manthandigital.com

अनुक्रम

1.	लेखकों का परिचय		03
2.	संपादकीय		05
3.	अतिथि संपादक की ओर से		06
4.	संवाद : प्रो. सामदोंग रिन्पोछे कोई नहीं कर सकता भारत की बराबरी	विजय क्रान्ति	10
5.	संस्कृत वाङ्मय में त्रिविष्टप		16
6.	तिब्बती साहित्य में संस्कृत	परम पावन दलाई लामा	18
7.	त्रिविष्टपः विश्व का स्वर्गतुल्य शीर्ष धरातल व नेहरू-युगीन गलतियाँ-1	प्रो. भगवती प्रकाश	20
8.	त्रिविष्टप शब्द का अर्थ है स्वर्ग	डॉ. सूर्यकांत बाली	25
9.	तिब्बत पूर्व मध्य युग में	आर.टी. मोहन	27
10.	भारत और तिब्बत के सांस्कृतिक संबंध भारत से ज्योति का एक विहंगावलोकन	क्लॉड अर्पी	32
11.	शाक्य पंडित की तीन मुख्य कृतियों की झलकियां	मिग्मार सेरिंग	41
12.	मध्य एशिया के लाम-रिम साहित्य के भारतीय स्रोत	भिक्खु पासादिक	46
13.	अवदान और तिब्बती नाटक पर उनका प्रभाव	एन के दास	52
14.	'सीमा के दक्षिण' तारानाथ का भारत बोध	डेविड टेंपलमैन	56
15.	तिब्बती परंपरा में महासिद्ध एवं भारत के नाथ	इष्ट देव सांकृत्यायन	63
16.	तिब्बत में आयुर्वेद	वैद्य भगवान दास	68
17.	ल्हासा से भारत तक	जेंडुन शॉफेल	73
18.	तिब्बत में रामकथा	सोनाली मिश्रा	88

आनुषंगिक आलेख

1.	पाठकों के पत्र		
2.	पोताला महल		19
3.	त्रिविष्टपेश्वर महादेव		26
4.	पश्चिमी तिब्बत में रुतोग प्रस्तर चित्र		51
5.	धार्मिक जीवनशैली		62
6.	तिब्बत में झीलें		67
7.	तिब्बती बौद्ध कला		87
8.	मनुष्य और भूत	तिब्बती लोककथा	91

आवरण चित्र : कैलाश पर्वत की पृष्ठभूमि पर गुरु पद्मसंभव के एक थंकाचित्र के साथ तिब्बत के मानचित्र का समुच्चित चित्र।

लेखकों का परिचय

विजय क्रान्ति वरिष्ठ भारतीय पत्रकार, तिब्बतविद और कुशल छायाकार हैं। पिछले करीब पांच दशकों से वे कई प्रतिष्ठित भारतीय और अंतरराष्ट्रीय मीडिया समूहों में कार्य कर चुके हैं। चीन अधिकृत तिब्बत के भीतर निर्वासित तिब्बती समुदाय और जनजीवन की उनकी 47 वर्षों की फोटोग्राफी तिब्बत पर फोटोग्राफी संबंधी एक व्यक्ति का सबसे बड़ा कार्य है।

परम पावन दलाई लामा तिब्बती लोगों और बौद्ध महायान समुदाय में अवलोकितेश्वर के अवतार तथा बुद्ध के करुणावतार माने जाते हैं। वे केवल पाँच वर्ष के थे जब उनकी पहचान 13वें दलाई लामा के पुनरावतार के रूप में की गई थी। दलाई लामा की पाँच शताब्दी से चली आ रही तिब्बती शृंखला में उनका अनुक्रम 14वां है। तिब्बत के सर्वोच्च आध्यात्मिक नेता होने के साथ-साथ दलाई लामा ही तिब्बत के शासक भी हैं। तिब्बत पर चीन के आधिपत्य के विरुद्ध हुए जनविद्रोह को चीनी सेना ने जिस तरह कुचला, उसकी हिंसा को देखते हुए उन्हें 1959 में पलायन कर भारत में शरण लेनी पड़ी।

प्रो. भगवती प्रकाश अर्थविद होने के साथ ही प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों के विशेषज्ञ भी हैं। वे गौतमबुद्ध विश्वविद्यालय, नोएडा, उत्तर प्रदेश के कुलपति हैं। वे भारत सोलर पॉवर डेवलपमेंट फोरम के संयोजक और स्वदेशी जागरण मंच के सहसंयोजक हैं।
संपर्क: bpsharma131@yahoo.co.in, Mob: 9829243459

डॉ. सूर्यकांत बाली वरिष्ठ पत्रकार और लेखक। भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा के अध्येता। प्रतिष्ठित हिंदी दैनिक नवभारत टाइम्स के स्थानीय संपादक रहे और नेशनल प्रोफेसर के रूप में पदस्थापित। हिंदी एवं अंग्रेजी में कई पुस्तकों का लेखन।

आर.टी. मोहन तेहरान स्थित भारतीय दूतावास में राजनयिक अधिकारी के पद से सेवानिवृत्ति के उपरांत अनुसंधान कार्य में प्रवृत्त। सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच अफगानिस्तान से होते हुए सशस्त्र मुस्लिम आक्रमण के विरुद्ध सफल हिंदू प्रतिरोध के इतिहास पर शोध और लेखन। संपर्क : mohyalhistory@gmail.com

क्लॉड अर्पी लेखक, पत्रकार, इतिहासकार और तिब्बतविद। 1949 फ्रांस के ऐंगोलम में जन्म, संप्रति भारत में औरोविले में निवास। फेट ऑफ टिबेट: व्हेन बिग इंसेक्ट्स ईट स्माल इंसेक्ट्स के अलावा तिब्बत, चीन, भारत और भारत-फ्रांस संबंधों पर कई लेख प्रकाशित।

मिग्मार सेरिंग (श्रद्धेय खेन्पो मिग्मार सेरिंग) शाक्य छात्रों के लिए बौद्ध दर्शन के प्रतिष्ठित उच्च अध्ययन संस्थान शाक्य महाविद्यालय के करीब एक दशक तक प्राचार्य रहे। पश्चिमी तिब्बत में जन्मे खेन्पो केवल चार वर्ष की आयु में ही वहाँ से पलायित होकर भारत आ गए और अपनी प्रारंभिक शिक्षा उन्होंने दक्षिण भारत में पूरी की।

भिक्खु पासादिक जर्मन मूल के भारतविद और बौद्ध भिक्षु। 17 अगस्त 1939 को हेस के बड अरोल्सेन में जन्म।

एन के दास मंथन को यह लेख द टिबेट जर्नल से मिला, लेकिन लेखक का परिचय हमें नहीं मिल सका।

इष्ट देव सांकृत्यायन वरिष्ठ पत्रकार एवं लेखक। एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से संबद्ध। कुछ कृतियों का लेखन एवं अनुवाद। संपर्क : idsankrityaayan@gmail.com

डेविड टेंपलमैन तारानाथ (1575-1634) की कई कृतियों पर 1970 से ही कार्य करते आ रहे हैं। संप्रति वह मोनाश यूनिवर्सिटी के अधीन मोनाश एशिया इंस्टीट्यूट में एडजंक्ट फेलो हैं।

वैद्य भगवान दास आयुर्वेद के प्रतिष्ठित विद्वान और वैद्य रहे हैं। उन्होंने तिब्बती औषधि शास्त्र का गहन अध्ययन किया था और भारतीय आयुर्वेद में इसके मूल को लेकर उनका शोध चर्चित रहा है। वे भारत, बांग्ला देश, भूटान, म्यांमार की सरकारों के अलावा विश्व स्वास्थ्य संगठन के भी परामर्शदाता रहे हैं। तिब्बती औषधि शास्त्र और आयुर्वेद के विविध पक्षों पर उनके अनेक शोधपत्र हैं।

जेंडुन शॉफेल तिब्बत के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान होने के साथ-साथ चित्रकार और कवि भी रहे हैं। उन्हें पहला आधुनिक तिब्बती भिक्षु विद्वान माना जाता है। संप्रदायवादी माने जाने के नाते भी उन्हें लेकर कुछ विवाद रहे हैं। कई देशों की यात्राएं कीं, कई भाषाएं सीखीं और कई विदेशी विद्वानों के साथ काम भी किया।

सोनाली मिश्रा इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र में प्रोजेक्ट एसोसिएट। कई पुस्तकों का अनुवाद। कहानियों का एक संकलन प्रकाशित। अनुवाद अध्ययन में पी-एच. डी.।
संपर्क : sonalitranslators@gmail.com

पाठकों के पत्र

सेवा में
संपादक महोदय
मंथन - सामाजिक एवं शैक्षिक सक्रियता की पत्रिका
नमस्कार!

भारतीय संविधान पर आपके दो अति उत्तम अंकों के लिए मैं आपको बधाई देती हूं। भारतीय संविधान निस्संदेह संविधान सभा के विद्वान सदस्यों के एक लंबे संघर्ष और विवेचनाओं के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया। किसी देश का संविधान उस देश की आत्मा और भावना को परिलक्षित करता है, किंतु अतीत की समृद्ध सभ्यता और एकता में अनेकता के अद्वितीय मेल वाले भारत जैसे विशाल देश के लिए यह अतीत के दर्शन और भविष्य के स्वप्न दोनों को परिलक्षित करता है।

एक शिक्षक के नाते मेरी यह हमेशा से सोच रही कि स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग सात दशकों के बाद इस संविधान पर फिर से विमर्श के साथ-साथ इसके सृजन के उद्देश्य के और विगत 70 वर्षों में हमने जो संवैधानिक लक्ष्य प्राप्त किए हैं उनके पुनर्मूल्यांकन की परम आवश्यकता है, जबकि भारत पहले ही सौ से ज्यादा संविधान संशोधन देख चुका है।

ये अंक बडे ही अच्छे ढंग से इतिहास और गूढ तथ्यों दोनों का उद्घाटन करते हैं, जिन्हें हममें से अधिकांश लोग नहीं जानते हैं। संविधान को पढना आसान है किंतु पंक्तियों के बीच निहित भावना और दर्शन को समझना कठिन है क्योंकि अधिकांश व्याख्यात्मक पाठ्यांश में इनका खुलकर उल्लेख नहीं हुआ है।

इन संस्करणों का सर्वोत्तम अंश संविधान के पीछे के उन अनसुने तथ्यों और परिस्थितियों को सामने लाना है जिनकी स्वतंत्रता के बाद विधिवेत्ताओं, न्यायाधीशों और विधि निर्माताओं ने हमेशा अनदेखी की। संविधान का सृजन करने वाले संविधान सभा के सदस्यों की भौतिक, मानसिक और संवेगात्मक भावनाएं इस दौर में सहज ही समझी जा सकती हैं, जब देश धर्म के नाम पर विभाजन और करोडों लोगों की हत्या के सदमे से गुजर रहा है। इस प्रलेख के प्रत्येक प्रावधान को अति पवित्र रूप में चित्रित करने से यह सिद्ध होगा कि यह कितना उचित है, जबकि संविधान सभा के महान् कर्ता-धर्ता स्वयं मानते थे कि यह अपूर्ण है। क्या ऐसे कुछ प्रावधानों के पुनरीक्षण का समय आ गया है जो राजनीतिज्ञों को धर्म और जाति के नाम पर स्वतंत्र भारत का विभाजन करने का पर्याप्त अवसर देते हैं? निस्संदेह इन बहुमूल्य अंकों की सहायता से संविधान के अंदरूनी तथ्य और संविधान में प्रस्तुत इन शर्तों के सिद्धांत तथा उनके पुनरीक्षण की आवश्यकता को अब बेहतर ढंग से समझा और उचित ठहराया जा सकता है।

दूसरे अंक में प्रस्तुत पांच ऐतिहासिक पुरुषों की उनके अनुभव, स्वप्न और भविष्य के भारत की समझ व्यक्त करतीं पांच ऐतिहासिक वक्तृताएं मन को आंदोलित करने वाली हैं। एक ऐसे संविधान के चश्मे से स्वतंत्र भारत का आकलन, जो अधिकांशतः भारत सरकार के अधिनियम 1935 पर आधारित है, और उन परिस्थितियों में संविधान सभा के गठन के प्रति महात्मा गांधी का असंतोष कई प्रश्न खडे करते हैं।

ये अंक पाठकों को तथ्यों को संविधान निर्माताओं की सोच से जोडकर देखने और संविधान तथा उसके उत्तम, अधम व अप्रस्तुत परिप्रेक्ष्यों पर मंथन करने की नई अंतर्दृष्टि विकसित करने हेतु मुझ जैसे शिक्षकों के मानस को जगाने का एक सुंदर अवसर प्रदान करते हैं।

मैं समझती हूं कि इन अंकों की सहायता से उन सभी को जो कानून के क्षेत्र में कार्यरत हैं भारत के समक्ष खडी वर्तमान चुनौतियों के आलोक में पुनर्व्याख्या और पुनरान्वेषण करने के लिए संविधान में प्रयुक्त विभिन्न प्रावधानों के विधान पर पुनर्विचार करने का दायित्व उठाना चाहिए।

इन उत्कृष्ट अंकों में योगदान के लिए सभी सहयोगियों और संपादक को मैं एक बार फिर हार्दिक बधाई देती हूं।

डॉ. सीमा सिंह
सहायक प्रोफेसर
विधि संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

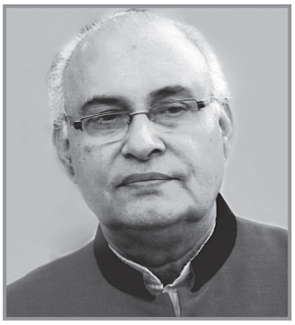

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

संपादकीय

गंधार विशेषांक का उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ, आभारी हूँ।

गंधार की कहानी उसके भारत से अभारत होने की कहानी है। इस अंक में हम हिमालय के मध्य एवं पूर्व तक पसरे हुए त्रिविष्टप पठार की बात कर रहे हैं। आज वह तिब्बत के नाम से विख्यात है। यहाँ कैलाश पर्वत एवं मानसरोवर स्थित है। इसके भू, जन एवं संस्कृति के सांगोपांग अनुसंधान की आवश्यकता है। पिछले अंकों के संपादकीय में हम यूरोप में उत्पन्न 'राष्ट्र-राज्य' अवधारणा की अमानवीयता व बर्बरता की चर्चा कर चुके हैं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद 'राष्ट्र-राज्य' के रूप में उभरे चीन ने, यूरोपीय साम्राज्यवाद को भी मात देने वाला साम्राज्यवाद प्रस्तुत किया है, उसने तिब्बत को निगल लिया, वह आज उसे अ-तिब्बत बनाने में जुटा है। इसी तरह से उसने पूर्वी तुर्किस्तान को भी ग्रसा है, अमानवीय चीनीकरण से वहां के लोग अपने खोते हुए अस्तित्व को बचाने की जंग लड़ रहे हैं।

तिब्बत का युद्ध शांतिमय एवं अहिंसक है, परम पावन दलाईलामा उसके नायक हैं। पूर्वी तुर्किस्तान की संस्कृति सेमेटिक है, वे लोग अहिंसा नहीं समझते। अत: हिंसक होकर 'आतंकवादी' बन गए हैं। चीन अब इन्हें अपने 'राष्ट्र-राज्य' का जबरन हिस्सा बना रहा है। राष्ट्र-राज्यों की नियामक संस्था 'संयुक्त राष्ट्र संघ' मूक दर्शक बनी हुई है।

इस अंक में हमारी कोशिश है कि अपने प्राचीन त्रिविष्टप एवं आधुनिक तिब्बत का हम साक्षात्कार कर सकें। योग्यतम विद्वानों के आलेख हम प्राप्त कर सके, यह प्रभु की कृपा है।

श्री विजय क्रान्ति जैसे वरिष्ठ पत्रकार अतिथि संपादक के रूप में हमें प्राप्त हुए। उनके द्वारा लिखा गया समग्रतापरक संपादकीय एवं श्री सामदोंग रिन्पोछे से उनका साक्षात्कार इस अंक की अनुपम निधि है। उन्हीं के कारण इस अंक को सांगोपांग अनुसंधान की पूंजी तथा लेखों का ऐसा संकलन प्राप्त हो सका। लेखों के मामले में 'द टिबेट जर्नल' का भी अतुलनीय सहयोग मिला, जो कि उनके पिछले अंकों में प्रकाशित हैं। चूंकि वे अभी भी प्रासंगिक हैं अत: हम उन्हें इस अंक में ले रहे हैं।

अगला अंक भी इसी का दूसरा भाग होगा तिब्बत को जानने, हिमालय को समझने एवं अपने भारत की सीमाओं को पहचानने का भी यह उपक्रम आपके सहयोग से ही आगे बढ़ रहा है। सहयोग बनाए रखें। शुभम्।

डॉ. महेश चंद्र शर्मा
mahesh.chandra.sharma@live.com

विजय क्रान्ति

अतिथि संपादक की ओर से

भारत और तिब्बत के रिश्तों का इतिहास तब से है जब इतिहास में आधुनिक राष्ट्र-राज्य का विचार भी शुरू नहीं हुआ था; इतिहास को तिथि के हिसाब से लिखा जाना भी शुरू नहीं हुआ था और समय काल को कुछ मुख्य घटनाओं के संदर्भ में ही याद रखा जाता था। बल्कि भारत और तिब्बत के रिश्ते तो युगों से भौगोलिक निकटता से कहीं आगे जाकर सांस्कृतिक एकात्मता पर टिके हुए थे। आम भारतीय के लिए तिब्बत इस कारण वंदनीय और अपना था क्योंकि वह भगवान शिव और मां पार्वती का घर था। बौद्ध धर्म के त्रिपिटक ग्रंथों में कहा गया है कि वर्षवास के लिए जब भगवान बुद्ध कैलाश मानसरोवर के देवलोक में गए तब वह अपनी दैनिक भिक्षा लेने भगवान शिव के पास जाया करते थे जो उन्हें बहुत स्नेह और आदर के साथ भिक्षा देते थे।

सामान्य तिब्बतजनों के लिए सदियों से भारत 'फाग्यूल' है जिसका अर्थ है 'पवित्र देश'। आम भारतीय के लिए कैलाश पर्वत और मानसरोवर की यात्रा शांति और निर्वाण की प्राप्ति के लिए जीवन का एक बहुत प्रिय लक्ष्य रही है। माना जाता है कि महाभारत का युद्ध जीतने के बावजूद मन के संताप और अशांति से मुक्ति पाने के लिए पांडव तिब्बत यात्रा के लिए चल निकले थे। युद्ध में कौरवों के पक्ष में लड़ने के बाद बच रहे कई योद्धा राजा भी हार की ग्लानि से बचने के लिए अपने राज्य वासस जाने के बजाए अपने बचे खुचे सैनिकों के साथ हिमालय पार तिब्बत में जा बसे थे। शायद यही कारण है कि तिब्बत की कई जातियां अपने पुरखों के भारतीय मूल से अपना रिश्ता मानती हैं।

लिखित इतिहास भी बताता है कि सदियों से भारत में बोध गया, राजगीर, नालंदा, सारनाथ और भगवान बुद्ध से जुड़े दूसरे तीर्थों की यात्रा पर जाने वाले तिब्बती नागरिकों को कभी भी पासपोर्ट या वीजा दिखाने की जरूरत नहीं रही। भारत और तिब्बत के बीच लगने वाली लगभग चार हजार किलोमीटर लंबी सीमा पर दोनों देशों के लोगों के बीच ऐसे हर दर्रे के आरपार बेरोकटोक व्यापार होता था जिसे पैदल या खच्चर पर लांघा जा सकता था। लेकिन आपसी लेनदेन और दोस्ती का यह रिश्ता केवल तभी तक बना रहा जब तक 1951 में चीन ने तिब्बत पर जबरन कब्जा नहीं जमा लिया।

इससे पहले तीन हजार साल के लिखित इतिहास में लद्दाख से लेकर हिमाचल, उत्तराखंड, नेपाल, भूटान और अरुणाचल प्रदेश तक की चार हजार किलोमीटर लंबी सीमा में किसी एक इंच स्थान पर एक दिन के लिए भी उस ओर चीन नहीं था। न तो इस सीमा पर कोई चीनी चौकी या चीनी सिपाही था और न कोई चीनी डाकघर, चीनी व्यापार अधिकारी की तैनाती का रिकार्ड किसी इतिहास में दर्ज है और न वहां चीनी करेंसी का कभी चलन रहा। हिमालय की इस सीमा के इस ओर भारतवर्ष था और उधर तिब्बत। इस पूरी सीमा के किसी भी बिंदु और किसी निकटतम चीनी इलाके के बीच कम से कम एक हजार किलोमीटर तक तिब्बत फैला हुआ था जो भारत और चीन के बीच एक शांत 'बफर' क्षेत्र की भूमिका निभाता था। यही कारण था कि भारत-तिब्बत की साझी सीमा को दुनिया की सबसे शांत सीमा माना जाता था।

तिब्बत के दो तरफ बसे इन दो पड़ोसियों के बारे में आम तिब्बती की भावनाओं को इस बात से समझाा जा सकता है कि रोजमर्रा की आम तिब्बती भाषा में भारत के लिए 'ग्याकर' और चीन के लिए 'ग्यानाक' शब्दों का इस्तेमाल होता है। तिब्बती भाषा में 'ग्याकर' का अर्थ है 'श्वेत' और 'शुभ देश' जबकि 'ग्यानाक' का अर्थ है 'काला' और 'अशुभ' या 'मनहूस' देश। महत्वपूर्ण बात यह है कि तिब्बत पर चीन के कब्जे के बाद सात दशक से चलाए जा रहे कम्युनिस्ट प्रचार, ब्रेन-वाशिंग अभियान और भारत के खिलाफ दुष्प्रचार के बाद भी आम तिब्बती नागरिक की

जुबान पर यह भाषाई परंपरा न केवल बनी हुई है बल्कि और गहरी हो चुकी है।

भारत और तिब्बत को सबसे मजबूती से जोड़ने वाला धागा है बौद्धधर्म और बौद्ध विरासत के वे सभी पक्ष जो आध्यात्म, दर्शन, अध्ययन और ललित कला, संगीत, चिकित्सा, खगोलशास्त्र, ज्योतिष, हस्तकला और वास्तुकला आदि से जुड़े हुए हैं। इसमें शक नहीं कि तिब्बत की कठिन भौगोलिक स्थिति और आवागमन की कठिनाइयों के कारण वहां बौद्धधर्म चीन और दूसरे कई देशों के मुकाबले काफी बाद में पहुंचा। लेकिन यह भी सच है कि बाहरी प्रभावों से बचा रहने के कारण कारण तिब्बत में यह अपने मूल रूप में न केवल बना रहा बल्कि वहां यह नए आयामों के साथ विकसित और पल्लवित भी होता रहा जबकि दूसरे अधिकांश देशों में या तो यह क्षीण पड़ गया या फिर इसके रूप में काफी परिवर्तन आ गया।

इसके लिए बहुत बड़ा श्रेय तिब्बत के दो राजाओं त्रिसोंङ देत्सेन और स्रांगसेन गोम्पो को जाता है जिनके काल में बौद्धधर्म ने तिब्बत में प्रवेश किया और इस प्रक्रिया के मूल नियम निर्धारित किए गए। राजा त्रिसोंङ देत्सेन के नेतृत्व में तिब्बत की भोटी लिपि और भाषा की रचना के लिए तिब्बती विद्वानों को भारत के नालंदा विश्वविद्यालय भेजा गया और इसके व्याकरण के लिए संस्कृत को मूल आधार बनाने का निर्णय लिया गया। हालांकि पड़ौसी चीन में बौद्धधर्म बहुत पहले पहुंच चुका था और वहां चीनी भाषा में बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद भी हो चुका था। इसके अलावा किसी तिब्बती के लिए हिमालय के पार बसे भारत के मुकाबले चीन की यात्रा काफी सरल थी और भारत की भीषण गर्मी के मुकाबले चीन का मौसम भी उनके लिए अनुकूल था। लेकिन इन दोनों राजाओं ने भोटी भाषा विकसित करने, बौद्ध साहित्य को चीनी भाषा के बजाए मूल संस्कृत से अनुवाद करने और आचार्य शांतरक्षित और गुरू पद्मसंभव जैसे प्रमुख भारतीय बौद्ध विद्वानों को लंबे काल के लिए तिब्बत में आमंत्रित करने के जो तीन निर्णय लिए उनके पीछे बहुत बड़ा कारण था। वे चीन से ''सैकंड-हैंड'' बौद्धधर्म और ज्ञान आयात करने के बजाए सीधे मूल भारतीय ज्ञान से तिब्बती ज्ञान की जड़ों को जोड़ने के प्रति उत्सुक थे।

तिब्बती भाषा को संस्कृत की देवनागरी लिपि, व्याकरण, शब्दकोश और शब्द विन्यास के अनुकूल विकसित करने के पीछे उनका कारण यह था कि भारतीय ग्रंथों का एकदम सटीक अनुवाद किया जा सके और मूल संस्कृत के ज्ञान को आने वाली पीढ़ियां भी एकदम सही समझ सकें। वे नहीं चाहते थे कि हर तिब्बती विद्यार्थी पहले भारत की कठिन यात्रा करे और फिर बौद्ध ज्ञान प्राप्त करने से पहले अपने कई वर्ष संस्कृत सीखने में लगाए। संस्कृत से तिब्बती में अनुवाद करने की जो शास्त्रीय व्यवस्था तिब्बत में विकसित की गई उसमें यह प्रावधान था कि किसी तिब्बती विद्वान को केवल तभी किसी संस्कृत ग्रंथ के अनुवाद की अनुमति मिलती थी जब उसकी टीम में एक भारतीय संस्कृत विद्वान भी शामिल हो। अनुवाद पूरा होने पर विशेष रूप से गठित एक विद्वत परिषद की पुष्टि के बाद ही उस अनुवाद को जारी किया जाता था।

इसी नीति का परिणाम है कि मूल संस्कृत से जितना साहित्य तिब्बती भाषा में अनुदित हुआ उतना दुनिया की किसी भी अन्य भाषा में नहीं हुआ। साहित्य और ज्ञान की इस सदियों लंबी परंपरा ने तिब्बती जनमानस और जीवनशैली पर इतना गहरा प्रभाव छोड़ा है कि पूरा तिब्बत उस भारतीय ज्ञान और साहित्य का एक विशाल 'कोल्ड-स्टोरेज' बन गया जिसका एक बहुत बड़ा हिस्सा स्वयं भारत में कई ऐतिहासिक कारणों से नष्ट हो चुका है। भारत से मिले इस ज्ञान का उदाहरण देकर वर्तमान दलाई लामा अकसर कहा करते हैं कि ''भारत और तिब्बत में गुरू और चेले का संबांध है।''

मानव इतिहास में शायद ही कभी ऐसा हुआ होगा कि विदेशी हमले के बाद घर बार छोड़

कर भाग रहे लोग अपने साथ पोथियां और ग्रंथों की पोटलियां बांधकर बर्फ के पहाड़ों को लांघ रहे हों। तिब्बती मठों और मंदिरों से भागकर भारत में शरण लेने के लिए आए हजारों भिक्षु लामाओं की गठरियों में ऐसे ही ग्रंथ थे। आज कई लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि मात्र डेढ़ लाख लोगों के तिब्बती शरणार्थी समाज ने भारत में पिछले छह दशक में शिक्षा और अध्ययन के जो संस्थान खड़े किए हैं उनमें से कम से कम दो ऐसे हैं जिन्हें भारतीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग 'यूनिवर्सिटी' या 'डीम्ड यूनिवर्सिटी' के स्तर की मान्यता दे चुका है। इन संस्थानों में चलने वाले अध्ययन का एक बड़ा हिस्सा भारत और तिब्बत के इस साझा ज्ञान भंडार पर केंद्रित है। सारनाथ में चल रहे तिब्बती संस्थान 'सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ हायर टिबेटन स्टडीज' ने पिछले कुछ दशकों से चल रहे अपने एक विशेष अभियान में दो सौ से अधिक ऐसे प्राचीन भारतीय ग्रंथों को तिब्बती से वापिस अनुवाद करके फिर से जीवित कर दिया है जो लुप्त हो चुके थे और जिनके फिर से उपलब्ध होने की सभी आशाएं सदियों पहले छोड़ी जा चुकी थीं। एक अच्छे 'चेले' के लिए अपने गुरू के लिए भला इससें सुंदर और उपयुक्त 'गुरूदक्षिणा' और क्या हो सकती है?

तिब्बती शरणार्थियों की कहानी मार्च 1959 में शुरू हुई जब चीनी अत्याचारों के विरुद्ध तिब्बती जनता उठ खड़ी हुई और इस जनक्रांति को कुचलने के लिए चीनी सेना ने लगभग 80 हजार तिब्बती नागरिकों की हत्या कर दी। तिब्बती शासक दलाई लामा ने भागकर भारत में शरण ली और उनके पीछे-पीछे लगभग 80 हजार तिब्बती नागरिक भी नेपाल, भूटान और भारत में आ गए। आज उनकी कुल संख्या लगभग डेढ़ लाख है। इनमें से लगभग 30 हजार लोग दो दर्जन से अधिक अन्य देशों में जा बसे हैं। इनमें से ज्यादातर यूरोप और उत्तरी अमेरिका में रह रहे हैं। भारत में रहने वाले तिब्बतियों की वर्तमान संख्या लगभग 90 हजार है। शेष लोग नेपाल और भूटान में हैं।

इसे तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू की दूरदर्शिता और सदाशयता ही कहना होगा कि उन्होंने व्यक्तिगत पहल करके इन शरणार्थियों को भारत के अलग-अलग हिस्सों में जमीन और सुविधाएं देकर लगभग एक दर्जन बस्तियों में बसाया। इन कैंपों में भारत सरकार के सहयोग से उपलब्ध कराई गई आधुनिक स्कूली शिक्षा, खेती, परंपरागत तिब्बती हस्तकलाओं पर आधारित रोजगार और ठेठ तिब्बती वातावरण का पूरा लाभ उठाते हुए इस शरणार्थी समाज ने अपनी राष्ट्रीय पहचान को नए सिरे से जीवित कर लिया है।

युवा दलाई लामा ने, जो निर्वासन के समय 25 वर्ष के थे, इस तिब्बत पुनर्जागरण के लिए शरणार्थी समाज में उपलब्ध योग्य लोगों के बूते पर पिछले छह दशक में तिब्बत के धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीति जीवन के लगभग हर पहलू से जुड़े ऐसे संगठन और संस्थान स्थापित कर दिए हैं जिनके बूते पर तिब्बती संस्कृति और राष्ट्रीय पहचान अनंत काल तक अपने पैरों पर खड़ी रह सकती है। इन संस्थानों में तिब्बत में चेयरमैन माओ के काल में 'सांस्कृतिक क्रांति' के दौरान नष्ट कर दिए गए कई मठों के नए संस्करण, शोध केंद्र, संगीत और नाटक संस्थान, ललित कलाओं के महाविद्यालय, मैडिकल कालेज और हस्तकलाओं का प्रशिक्षण देने तथा उत्पादन करने वाले केंद्र भी शामिल हैं। सारनाथ संस्थान भी इन्हीं में से एक है।

एक धर्म शासित व्यवस्था में रहने के बाद निर्वासन में आधुनिक विश्व के संपर्क में आकर दलाई लामा ने तिब्बती व्यवस्था में कई क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। तिब्बत में लगभग पांच सौ साल से चली आने वाली राजव्यवस्था में दलाई लामा के पास सर्वोच्च प्रशासक और सर्वोच्च धार्मिक नेता के दोनों अधिकार रहे हैं। भारत आने के तुरंत बाद दलाई लामा ने 29 अप्रैल 1959 में मसूरी में केंद्रीय तिब्बती प्रशासन (सीटीए) की स्थापना की जो मई 1960 में दलाई लामा के साथ धर्मशाला स्थानांतरित हो गया। सितंबर 1960 में एक नामित संसद और 'काशाग' (मंत्रिमंडल) से शुरू करके उन्होंने धीरे-धीरे इस व्यवस्था को आम नागरिक के गुप्त मतदान से निर्वाचित संसद में बदल दिया और 2001 में 'कैलोन ट्रीपा' (प्रधानमंत्री) पद पर भी सीधे मतदान की व्यवस्था शुरू कर दी। 2012 में दलाई लामा ने अपने सारे प्रशासकीय अधिकार निर्वाचित कैलोन ट्रीपा, निर्वाचित संसद और प्रधान न्यायाधीश की साझा परिषद को सौंप दिए। उसके बाद प्रधानमंत्री के पद को 'सिक्योंग' (राष्ट्रपति) के पद में बदलकर दलाई लामा ने अपने लिए केवल सर्वोच्च धार्मिक नेता का पद रखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान दलाई लामा के देहावसान के बाद चुनर जाने वाला उनका अगला अवतार तिब्बत के केवल धार्मिक मामलों का मुखिया होगा जबकि सारे राजनीतिक और शासकीय अधिकार निर्वाचित राष्ट्रपति के पास रहेंगे।

दलाई लामा के इस क्रांतिकारी परिवर्तन से चीन सरकार का परेशान होना और बौखलाना स्वभाविक था। दलाई लामा के निर्वासन के बाद पिछले छह दशक में तिब्बत की तीन पीढ़ियां पैदा हो चुकी हैं जिन्होंने न तो कभी दलाई लामा को देखा और न उनके शासन को। उन्होंने केवल दलाई लामा के विरुद्ध दिन रात होने वाले चीनी कम्युनिस्ट विष वमन को देखा है। लेकिन इसके बावजूद तिब्बत की जनता के मन में दलाई लामा के प्रति गहरी आस्था को देखकर चीनी नेताओं को समझ आ चुका है कि तिब्बती जनता को काबू में करने के लिए अगला दलाई लामा उनके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। यही कारण है कि चीन सरकार लगातार यह दावा करती आ रही है कि अगले दलाई लामा के चुनाव का अधिकार केवल उसे है और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की मुहर के बिना अगला दलाई लामा मान्य नहीं होगा।

तिब्बत पर चीनी कब्जे के बाद चीन की सीमा दक्षिण एशिया तक आ पहुंची है। इससे पहले 1949 में तत्कालीन रिपब्लिक ऑफ ईस्ट तुर्किस्तान पर कब्जा जमाकर चीन ने अपनी सीमाओं को तत्कालीन सोवियत संघ के सैंट्रल एशियाई देशों तक फैला लिया था। तब चीन ने

ईस्ट तुर्किस्तान को नया चीनी नाम दिया था 'शिनजियांग' जिसका अर्थ है 'नया सीमांत'। पिछले सात दशक में चीन ने तिब्बत और ईस्ट तुर्किस्तान में दर्जनों सैनिक छावनियां, हवाई अड्डे और परमाणु अस्त्रों के अड्डे बना लिए हैं। इन दोनों देशों के मूल जातीय चरित्र को बदल कर उसे चीनी रंग में रंग डालने के उद्देश्य से चीन वहां लाखों की संख्या में हान चीनी नागरिकों को लाकर बसा रहा है।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान अपनी कई तिब्बत यात्राओं के दौरान मैंने स्वयं देखा है कि तिब्बत के ल्हासा, शिगात्से, लीथांग और कारजे जैसे दर्जनों छोटे बड़े शहर लगभग पूरी तरह चीनी शहर बन चुके हैं और वहां के स्थानीय तिब्बती अपने ही देश में अर्थहीन अल्पसंख्यक होकर रह गए हैं। यही हाल शिंजियांग का है जहां के आत्मसम्मानी मुस्लिम उइघुर लोग हर संभव तरीके से चीन सरकार और वहां बसाए जा रहे चीनी नागरिकों का विरोध कर रहे हैं। पिछले सात दशक में वहां खून खराबे से भरे सैंकड़ों कांड हो चुके हैं। आजकल शिंजियांग से आने वाले समाचारों से पता चलता है कि वहां चीन सरकार ने स्थानीय मुस्लिमों को सबक सिखाने और उनकी ब्रेन वाशिंग करने के लिए ऐसे कई विशालकाय और जेलनुमा कैंप बना दिए हैं जिनमें 10 लाख और 20 लाख के बीच स्थानीय उइधुर जाति के लोगों को बंद करके रखा गया है। चीन सरकार अपने अंतर्राष्ट्रीय प्रोपेगेंडा अभियानों में ऐसे सभी उइघुर व्यक्तियों और संगठनों को 'आतंकवादी' के रूप में पेश करती है जो ईस्ट-तुर्किस्तान के लिए आजादी की मांग करते हैं।

इस मायने में चीन सरकार के लिए तिब्बती नागरिक बहुत हलका सिरदर्द हैं क्योंकि तिब्बत में आजादी और मानवाधिकारों के लिए चलने वाला तिब्बती आंदोलन शिंजियांग के मुकाबले बहुत शांतिवादी है। तिब्बती अत्याचारों के खिलाफ पिछले कुछ वर्ष में (इस लेख के लिखे जाने तक) 153 तिब्बती नागरिक आत्मदाह कर चुके हैं लेकिन इनमें से एक भी तिब्बती ने आत्मदाह से पहले किसी चीनी सैनिक या चीनी नागरिक के साथ हिंसा नहीं की। यह भी एक विडंबना है कि ट्यूनीशिया में एक दुकानदार के आत्मदाह ने पूरे पश्चिमी जगत को झकझोर दिया लेकिन तिब्बत में लगातार चलने वाली इस आत्मदाह श्रंखला के बावजूद किसी देश की सरकार या मानवाधिकार संगठन ने चीन के खिलाफ कोई कदम नहीं उठाया।

एक और विडंबना यह है कि एक ऐसे विश्व में जहां अफगानिस्तान और कुवैत में विदेशी सेना के घुसने पर विश्व के बड़े और शक्तिशाली देश अपनी-अपनी सेनाओं को लेकर युद्ध में उलझ जाते हैं वही देश तिब्बत और ईस्ट तुर्किस्तान जैसे विशालकाय देशों पर चीन के खुल्लमखुल्ला हमले और कब्जे की ओर आंख मूंद कर बैठ गए। आज तिब्बत और ईस्ट तुर्किस्तान पर चीन के सत्तर साल से चले आ रहे उपनिवेशवादी कब्जे का दुनिया के एक देश ने भी विरोध नहीं किया। पूरे मुद्दे को मानवाधिकारों की ऐसी आदर्शवादी ऐय्याशी में बदल दिया गया है जिस पर सुविधा के अनुसार गहरी चिंता भी व्यक्त की जाती है और मौका आने पर उसे चीन की व्यापारिक रिआयतों के एवज में आराम से दृष्टिओझल भी किया जाता है।

यह एक दुर्भायपूर्ण सच है कि आत्माभिमान और मानवीय मूल्यों की दुहाई देने वाले भारत ने अपनी आंखों के सामने चीन द्वारा तिब्बत को निगल जाने दिया और अपनी सीमाओं पर स्थायी रूप से खड़े होने वाले खतरे पर चिंता नहीं दिखाई। दुर्भाग्य से जब चीन ने पाकिस्तान द्वारा हथियाए गए भारतीय क्षेत्र में से तिब्बत और शिंजियांग को जोड़ने वाले काराकोरम मार्ग का निर्माण किया और हाल ही में पाक अधि कृत जम्मू कश्मीर में से सीपैक के तहत विशाल सैनिक राजमार्ग का निर्माण किया तब भी भारत सरकार असहाय बनी खड़ी रही। भारत की ओर से ठीक ऐसी ही उदासीनता और असहायता दशकों से बार-बार दिखाई जाती रही है जब चीन ने हथियाए हुए तिब्बत को अपनी सैनिक छावनी की तरह इस्तेमाल करके 1962 में भारत पर हमला किया या भारत विरोधी नक्सली छापामारों और उत्तर-पूर्वी राज्यों के भारत विरोधी संगठनों को तिब्बत में हथियार, ट्रेनिंग और शरण देने का काम किया। हैरानी की बात है कि भले ही वह चीनी सेना की टुकड़ियों के लद्दाख में घुस आने की बात हो, डोकलाम में जबरन कब्जा करने का प्रयास हो या फिर अरूणाचल प्रदेश पर अपना दावा जताने की घोषणाएं हों, भारत सरकार ने कभी भी चीन सरकार को सीधे शब्दों मेंयह नहीं कहा कि गैर कानूनी तरीके के हथियाए गए तिब्बत को आधार बनाकर वह भारत-तिब्बत सीमा क्षेत्र में अपना कोई दावा नहीं जता सकता।

ये सभी मुद्दे दिखाते हैं कि तिब्बत का भारत की सुरक्षा, स्थायित्व और अखंडता पर बहुत गहरा प्रभाव भी पड़ता है और भारत के लिए वह सांस्कृतिक, राजनीतिक और नैतिक महत्व भी रखता है। तिब्बत पर सात दशक से चले आने वाले चीनी कब्जे के कारण भारत के हितों पर लगातार बुरा असर पड़ रहा है और लगातार बढ़ता जा रहा है। ऐसे में यह जरूरी हो जाता है कि पिछले सत्तर साल की उदासीनता और असहायपन के दुश्चक्र को तोड़कर भारत में तिब्बत के बारे में नई राष्ट्रीय दृष्टि का विकास किया जाए। मंथन का यह और आगामी अंक इसी राष्ट्रीय मंथन प्रक्रिया के प्रति समर्पित हैं। हम आशा करते हैं कि इन दो अंकों में प्रस्तुत की जाने वाली सामग्री और विचार भारत के बुद्धिजीवी वर्ग, विचार जनक वर्ग, राजनेताओं और नीति निर्धारकों को इस राष्ट्रीय मंथन के लिए प्रेरित करेंगे।

विजय क्रान्ति

संवाद **प्रो. सामदोंग रिन्पोछे**

कोई नहीं कर सकता भारत की बराबरी

तिब्बत और उससे जुड़े प्रश्नों पर हमें तथ्यों का ज्ञान कम, भ्रांतियां अधिक हैं। आशा करते हैं कि हमारे अतिथि संपादक श्री विजय क्रांति और प्रो. सामदोंग रिन्पोछे के बीच हुआ यह संवाद हममें से बहुत लोगों को भ्रांतियों से मुक्त करने में सहायक होगा। प्रो. रिन्पोछे बौद्ध धर्म एवं दर्शन के विद्वान होने के साथ-साथ एक महत्वपूर्ण चिंतक, शिक्षाविद और राजनीतिक कार्यकर्ता भी हैं। वे धर्मशाला (भारत) में परम पावन दलाई लामा के नेतृत्व में गठित केंद्रीय तिब्बती प्रशासन के दो बार निर्वाचित कलोन-त्रिपा (प्रधानमंत्री) भी रहे। वह सारनाथ स्थित प्रतिष्ठित केंद्रीय उच्च तिब्बत अध्ययन संस्थान के संस्थापक प्रमुख तथा शैक्षणिक संस्थानों के परिषद सदस्य और भारतीय विश्वविद्यालय संघ के अध्यक्ष भी रह चुके हैं। निर्वासित तिब्बतियों के लिए घोषणा-पत्र तथा भावी तिब्बत का संविधान बनाने में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उन्होंने अपने तरुणावस्था में तिब्बती युवा कांग्रेस के उपाध्यक्ष का कार्यभार भी संभाला। साक्षात्कार के प्रमुख अंश

विजय क्रान्ति - भारतीय इतिहास और साहित्य में तिब्बत के लिए त्रिविष्टप नाम का उपयोग किया गया है। उस पुराने तिब्बत और आज के तिब्बत के बीच निरंतरता के बारे में आप कहते हैं?

प्रो सामदोंग रिन्पोछे - निरंतरता और अनिरंतरता की बात करना तो शायद सही नहीं होगा। त्रिविष्टप बहुत पुराना शब्द है। भगवान बुद्ध के प्रवचनों में भी यह कई बार उपयोग हुआ है। बौद्ध वांग्मय में त्रिविष्टप को सुमेरू पर्वत पर माना गया है जहां इंद्र और दूसरे देवताओं का निवास है। प्राचीन भारतीय साहित्य में और बौद्ध साहित्य में इसे पृथ्वी से ऊपर बसा हुआ माना गया है जहां इंद्र का राज है। उससे थोड़ा नीचे किन्नरों का और गांधर्वों का निवास है। लेकिन स्वामी दयानंद के सत्यार्थ प्रकाश में त्रिविष्टप शब्द का उपयोग तिब्बत के लिए किया गया है। अगर भारत से देखा जाए तो तिब्बत की ऊंचाई के कारण और उसे 'दुनिया की छत' कहे जाने के कारण उसे त्रिविष्टप कहना शायद गलत नहीं होगा। लेकिन बौद्ध वांग्मय के हिसाब से तिब्बत त्रिविष्टप नहीं है।

भारत की भाषा में तिब्बत को 'भोट' और 'हिमवर्त' भी कहा जाता है। बौद्ध वांग्मय और हिंदू वांग्मय दोनों में हिमालय के केंद्र में कैलाश पर्वत और मानसरोवर को महादेव और उमा के निवास के रूप में

माना गया है। भगवान बुद्ध के विनय पिटक में आता है कि बुद्ध की माता महामाया जी का बुद्ध के जन्म के एक मास के भीतर ही देहांत हो गया था और उनका पुनर्जन्म त्रिविष्टप में हुआ। भगवान बुद्ध अमरत्व प्राप्त करने के बाद एक बार त्रिविष्टप में गए हैं। वहां उन्होंने तीन माह का वर्षावास किया। उस समय वहां वही भोजन मिलता था जो देव खाते थे। लेकिन वहां वह भोजन नहीं मिलता था जो मनुष्य धरती पर खाते हैं। विनय पिटक के अनुसार भगवान बुद्ध भिक्षाटन के लिए कैलाश पर्वत पर जाते थे और महादेव जी उनको भिक्षा दिया करते थे। जब हिंदू लोगों ने देखा कि भगवान शिव बड़े आदर के साथ भगवान बुद्ध को भिक्षा दे रहे हैं तो कई लोग बुद्ध के भी भक्त हो गए। त्रिविष्टप कैलाश से अलग है लेकिन कैलाश के निकट जान पडता था। सत्यार्थ प्रकाश में भोटदेश को जो त्रिविष्टप कहा गया है उसके पीछे क्या तर्क है इसे मैंने देखा नहीं है इसलिए और ज्यादा नहीं कह सकता। कोई इस पर अध्ययन करे तो अच्छा होगा। संस्कृत भाषा में तिब्बत को त्रिविष्टप नहीं बल्कि 'भोट' कहा गया है और तिब्बती भाषा में भी इसे 'भोद' कहा जाता है। दोनों एक जैसे हैं। मूल शब्द संस्कृत से अपभ्रंश होकर तिब्बती भाषा में आया या तिब्बती से संस्कृत में गया यह विचार की बात है।

तिब्बत के लिए कई जगह 'हिमवर्त' नाम का भी उपयोग किया गया है। ऐसा शायद इसलिए कि यह हिमालय के हिम से ढके पहाड़ों के बीच एक कटोरे जैसा है। भगवान बुद्ध के जमाने में तिब्बत का बड़ा हिस्सा एक झील के अंदर था। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि यह झील सूख जाएगी और शैल की धरती ऊपर आ जाएगी। माना जाता है कि ल्हासा वाला क्षेत्र पहले झील के अंदर था।

विजय - ऐसे कौन से तत्व हैं जो भारत और तिब्बत में समान हैं और दोनों को जोड़ते हैं?

प्रो रिन्पोछे - देखा जाए तो बौद्ध धर्म दोनों देशों को जोड़ने वाला मुख्य बिंदु है। सबसे पहले तो यह माना जाता है कि तिब्बत का पहला राजा न्यात्रि सेन गोन्पो? भारत के बंगाल क्षेत्र से था। लेकिन उसके इतिहास के बारे में आजकल एक विवाद यह भी है कि वह भारत से नहीं आया था बल्कि वह एक तिब्बती ही था। ऐसा कई बार होता है कि इतिहासकार भी राष्ट्रवादी हो जाते हैं।

भगवान बुद्ध अमरत्व प्राप्त करने के बाद एक बार त्रिविष्टप में गए हैं। वहां उन्होंने तीन माह का वर्षावास किया। उस समय वहां वही भोजन मिलता था जो देव खाते थे। लेकिन वहां वह भोजन नहीं मिलता था जो मनुष्य धरती पर खाते हैं। विनय पिटक के अनुसार भगवान बुद्ध भिक्षाटन के लिए कैलाश पर्वत पर जाते थे और महादेव जी उनको भिक्षा दिया करते थे

लेकिन यह माना जाता है कि बंगाल से आए इस राजकुमार की एक आंख असामान्य थी। उसे अपने देश से देश निकाला दे दिया गया था। वह अश्व विमान से हिमालय पार करके तिब्बत में पहुंचा था। वह देखने में बहुत हट्टा कट्टा था और सुंदर था। जब तिब्बती किसानों ने उससे पूछा कि तुम कहां से आए हो तो उसने ऊपर पहाड़ों की दिशा में हाथ उठाकर बताया कि वह ऊपर से पार करके आया है। तिब्बती बहुत सरल आदिवासी थे। उन्होंने सोचा कि वह आसमान से आया है इसलिए वह बहुत पवित्र आदमी होगा। सो वे लोग उसे कंधों पर उठाकर ले गए और उसे अपना राजा बना दिया। माना जाता है कि तभी से तिब्बत का राजवंश शुरू हुआ और इस तरह एक भारतीय ने तिब्बत को एक राष्ट्र का रूप दिया।

दूसरा, तिब्बत के लोग भी भारत के वंशज हैं। सभी तिब्बतवासी मंगोल टाइप के नहीं हैं, केवल कुछ हिस्सा हैं। पूर्वी तिब्बत में कई लोग मंगोल जैसे हैं बाकी पश्चिम में अधिकांश भारतीय आर्य टाइप के हैं। चौथी या पांचवीं शताब्दि के एक आचार्य ने लिखा है कि महाभारत की लड़ाई के बाद दक्षिण के एक राजा अपनी सेना के साथ कौरव पक्ष की ओर से लड़े थे। लेकिन युद्ध में हार के बाद शर्म के मारे वापस अपने राज्य जाने के बजाए वह अपने बचे हुए सैनिकों के साथ हिमालय में तिब्बत में बस गए। इस कारण वहां की जातियों में भारतीय मूल का गहरा प्रभाव है। लेकिन यह शास्त्रीय वचन है। इसमें ऐतिहासिदक तथ्य कितना है यह जांचना मुश्किल है।

जब तिब्बत में पहला धर्मग्रंथ पहुंचा वह संस्कृत में था और शायद पहली ईस्वी सदी के प्रथम अर्ध में था। उस समय कोई इसे पढ़ नहीं पाया। लेकिन तब भविष्यवाणी की गई कि चार पांच पीढी के बाद इसे पढ़ने वाला आएगा, इसलिए इसे संभाल कर रखा जाए। जब स्रांगसेन गोंम्पो का राज आया तब तिब्बत की भाषा और लिपि बनाने का फैसला किया गया। तब 21 मेधावी बच्चों का चयन करके भारत भेजा गया। इनमें से कुछ नेपाल में रह गए और कुछ रास्ते में मर गए। बाकी में से एक विद्वान थोन्मे संभोट को छोड़ बाकी भी नालंदा के मौसम को नहीं झेल पाए और चल बसे। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। वह चार पांच साल तक नालंदा में रहा। वहां रहकर कई ब्राह्मण विद्वानों से उसने संस्कृत भाषा सीखी और व्याकरण तथा लिपि का ज्ञान लिया। उसने देवनागरी लिपि के आधार पर तिब्बती लिपि का विकास किया। संस्कृत की वर्णमाला में पचास वर्ण हैं। उनमें से उसने केवल 34 वर्ण लेकर तिब्बती भाषा बनाई और तब भारत के संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद शुरू किया गया। इस अभियान में तिब्बत से जो लोग आए थे उनके काम में भाषा के अतिरिक्त यह जिम्मेदारी थी कि यहां से बौद्ध ज्ञान भी लेकर आना है और बौद्ध धर्म को तिब्बत में स्थापित करना है। उस समय कुछ पंडित और बौद्ध विद्वान तिब्बत गए। तब भारत से चार पांच बौद्ध भिक्षु जाते थे और कुछ नेपाल से भी जाते थे। लेकिन तिब्बती स्वयं बौद्ध भिक्षु नहीं बनते थे। अनुवाद भी छोटे पैमाने पर हो रहा था। लेकिन भाषा शुरू हो गई थी।

तब चुसुम देसेन के जमाने में तय हुआ कि ऐसे काम नहीं चलेगा। धर्म की स्थापना के लिए एक बड़े अभियान का निर्णय लिया गया। उस समय आचार्य शांतरक्षित बहुत लोकप्रिय विद्वान थे। विख्यात धार्मिक विद्धान के साथ वह तर्कशास्त्री भी थे लेकिन वयोवृद्ध हो चुके थे। तब तिब्बत में धर्म की स्थापना के लिए पहले बौद्ध धर्म के समस्त त्रिपिटक और उन पर टीकाओं को अपनी तिब्बती भाषा में अनुवाद करने का निर्णय लिया गया। अनुवाद पर सबसे पहले इसलिए ध्यान दिया गया क्योंकि पहले भारत जाकर भाषा यानी संस्कृत सीखने और उसके बाद धर्म का अध्ययन करने का मतलब था कि आधा जीवन तो भाषा सीखने में ही

निकल जाएगा। बाकी आधे जीवन में धर्म सीखना बहुत कठिन हो जाता। इसलिए पहले धर्मग्रंथों के अनुवाद का काम शुरू किया गया। साम्ये में इस काम के लिए आचार्य शांतरक्षित ने एक विश्वविद्यालय बनाया जिसमें कई विभाग थे। उनमें सबसे बड़ा विभाग था 'दज्र रूपोलिंग'? यानी अनुवाद विभाग। उसमें लगभग दो-तीन सौ भारतीय विद्वान और चार-पांच सौ तिब्बती विद्यार्थी रहते थे। तब राजा ने यह नियम बनाया कि किसी भी ग्रंथ के अनुवाद के लिए कम से कम दो लोगों की टीम होनी चाहिए। एक भारतीय पंडित और एक तिब्बती अनुवादक। यह भी निश्चित किया गया कि भले ही कोई तिब्बती अनुवादक संस्कृत में कितना भी प्रवीण क्यों न हो लेकिन किसी भारतीय पंडित के बिना, जो संस्कृत में प्रवीण हो, कोई तिब्बती अकेले अनुवाद नहीं करेगा। इसी तरह भले ही कोई भारतीय विद्वान जो भले ही तिब्बती में प्रवीण हो, वह भी किसी तिब्बती विद्वान के बिना तिब्बती में अनुवाद नहीं करेगा। फिर उसके बाद मूल पाठ के साथ परिषद उसकी जांच करेगी तभी वह अनुवाद स्वीकार्य होगा।

उसके बाद तिब्बती भाषा का लगातार विकास होता रहा। आज दुनिया में केवल तिब्बती भाषा है जो संस्कृत के समकक्ष है। भारतीय भाषाओं में भी ऐसी कोई भाषा नहीं है। तिब्बती अनेक दृष्टियों से संस्कृत से अलग भाषा है। लेकिन संस्कृत में जो कुछ भी अभिव्यक्त किया जा सकता है वह तिब्बती भाषा में भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए संस्कृत में उपसर्ग बहुत महत्वपूर्ण है। यह दुनिया की किसी और भाषा में नहीं है। चीनी भाषा में भी नहीं है । जैसे एक शब्द है 'शुद्ध'। उसमें परि लगा दीजिए तो वह परिशुद्ध हो जाएगा। सं लगा दीजिए तो संशुद्ध हो जाएगा। वि लगा दीजिए तो विशुद्ध हो जाएगा। नि लगा दीजिए तो निशुद्ध हो जाएगा। इस तरह के 22 उपसर्ग संस्कृत में हैं जो भाषा को बहुत समृद्ध बनाते हैं। तिब्बती में भी ऐसे ही 22 उपसर्ग हैं। इसी तरह जिस छंद में संस्कृत में कहा गया है उसे तिब्बती में भी उसी छंद में कहा जाएगा। इसलिए गद्य में तो अनुवाद आसानी से हो सकता है जबकि पद्य में छंद को ठीक बिठा पाना उतना आसान नहीं होता। यही कारण है कि भारतीय साहित्य का जितना अनुवाद तिब्बती भाषा में हुआ है उतना दुनिया की किसी भी अन्य भाषा में नहीं हुआ है। और जितना अच्छा तिब्बती भाषा में हुआ है उतना किसी अन्य भाषा में नहीं हुआ है।

तिब्बत में अपने भिक्षु बनाने का भी निर्णय लिया गया क्योंकि भारत और नेपाल से भिक्षु मंगाकर कब तक काम चलाया जा सकता था? ये दो काम आचार्य शांतरक्षित ने किए। उस समय तिब्बत में बौद्ध पूर्व के बॉन धर्म का भी दबाव था। वे जादू करना भी जानते थे। इसलिए उनके जवाब के तौर पर गुरू पद्मसंभव को भी भारत से बुला लिया गया। इस तरह चुसुम देसेन, गुरु पद्मसंभव और आचार्य शांतरक्षित को तिब्बत में बौद्ध धर्म का संस्थापक माना गया है। यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि तिब्बत में भाषा और धर्म पर चुसुम देसेन, स्रांगसेन गोम्पो और अन्य राजाओं के काल में जो काम हुआ उसके लिए वे लोग चीन भी जा सकते थे। आसान भूगोल के कारण चीन जाना आसान भी था जबकि भारत जाने के लिए हिमालय को पार करना पड़ता था। इसके अलावा भारत की गर्मी भी तिब्बती विद्वानों के लिए बहुत कठिन थी। लेकिन इसके बावजूद उन राजाओं ने इस तरह की मंत्रणाओं को इस कारण नहीं माना कि बौद्ध धर्म का मूल स्थान भारत है। चीन से जो भी भारतीय ज्ञान मिलेगा वह 'सेकंड-हैंड' होगा, जो स्वीकार्य नहीं है। इसलिए इस ज्ञान को भारत से और भारत की संस्कृत भाषा के माध्यम से लेने का निर्णय लिया गया। इसी कारण से तिब्बत की भाषा को संस्कृत के अनुकूल विकसित किया गया।

उसके बाद तो फिर जो संस्कृति, कला और वास्तुकला तिब्बत में विकसित हुई उस पर भारत का गहरा प्रभाव है। लेकिन व्यापार और वेशभूषा तथा कुछ छोटी-मोटी हस्तकलाओं के मामले में चीन का प्रभाव जरूर रहा है। बाकी सब कुछ अधिकांशत: भारत से ही लिया गया है। इसलिए अगर कोई यह सोचे कि किस आधार पर तिब्बत को चीन या भारत के अधीन माना जाए तो भारत के मुकाबले चीन के साथ समानता बहुत कम बचती है। दो-तीन बार चीन के साथ तिब्बती राजाओं के शादी के संबंध जरूर रहे हैं लेकिन वह बहुत अर्थ नहीं रखता। चीन के साथ व्यापार भी काफी होता रहा है लेकिन वह भी खास महत्व नहीं रखता। भारत के साथ भाषा, संस्कृति, कला और चिकित्सा जैसे मुख्य क्षेत्रों में ये संबंध बहुत गहरे रहे हैं। धर्म के मामले में भी तिब्बत में बॉन मत धीरे-धीरे समाप्त होता गया और अधिकांश लोगों ने बौद्ध मत स्वीकार कर लिया। ग्यारहवीं शताब्दी में जब भारत में बौद्ध मत लगभग समाप्त हो गया तब तक तिब्बत के विद्यार्थी भारत जाते रहे और भारतीय विद्वान तिब्बत आते रहे।

इसलिए अगर हम खोज करें तो पाएंगे कि भारत और तिब्बत के बीच जो संबंध हैं वे न केवल बौद्ध धर्म और संस्कृति में बहुत गहरे हैं बल्कि आयुर्वेद, संगीत, नृत्य और कलाओं जैसे गैर-धार्मिक विषयों में भी तिब्बत पर भारत का प्रभाव बहुत गहरा है।

विजय - एशिया में इस्लाम के जो प्रहार हुए उनसे तिब्बत कैसे बचा रहा?

प्रो रिन्पोछे - एशिया में सेंट्रल एशिया और पश्चिम एशिया से इस्लाम के जो हमले हुए उनसे तिब्बत इस कारण बचा रहा कि तिब्बत बहुत ऊंचा था। तेरहवीं शताब्दी तक ऐसा ही रहा। लेकिन 12 सौ के आरंभिक दौर में जब चंगेज खान का जो हमला हुआ उसमें चंगेज खान ने लगभग पूरे तिब्बत को अपने कब्जे में ले लिया था। लेकिन उसने तिब्बत में न तो धर्म परिवर्तन कराया और न तिब्बत में अपना प्रशासन स्थापित किया। उसने स्थानीय कबीला सरदारों को ही अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया। तिब्बत में उसकी रुचि केवल इतनी ही थी कि हर साल उसे वहां से टैक्स आदि मिलता रहे । उनके इक्का-दुक्का आदमी आकर अपना पैसा या उसके बराबर माल वसूलते थे। तिब्बत के धर्म और संस्कृति से उनका कोई सरोकार नहीं था। बल्कि बाद में 1265 के आसपास जब तिब्बत से शाक्य पंडित मंगोलिया गए तब उनके प्रभाव में वहां के राजा खुद भी बौद्ध हो गए और उन्होंने तिब्बत के राजा को उनका राज वापस कर दिया। तब से 1951 तक संपूर्ण तिब्बत कभी किसी के राजनीतिक आधिपत्य में नहीं गया।

विजय - बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तिब्बत के एक स्वतंत्र देश होने के बाद भी दूसरे विश्वयुद्ध के बाद तिब्बत सरकार तिब्बत के स्वतंत्र अस्तित्व को क्यों नहीं बचा पाई?

प्रो रिन्पोछे - तिब्बत का अपना स्वतंत्र देश के रूप में तो अस्तित्व था। लेकिन अंतरराष्ट्रीय कूटनीति में जिस तरह से किसी देश को अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व व्यक्त करना चाहिए, वह ठीक तरह से नहीं किया गया। उसका कारण यह था कि नेशन स्टेट की जैसी कल्पना होनी चाहिए, वह तिब्बती

लोगों के पास नहीं थी। कुबलई खान ने तिब्बती राजा को उनका राज्य तो वापस दे दिया, लेकिन तिब्बती शासकों ने उसके बाद जिस नियोजित तरीके से देश को चलाना चाहिए वैसा नहीं किया। बल्कि सेना, पुलिस और प्रशासन के बारे में वे काफी हद तक मंगोलिया पर निर्भर रहते थे। मंगोलिया की दृष्टि से तो हम स्वतंत्र थे। लेकिन हम स्वयं कई मामलों में उन पर निर्भर बने रहे। उसके बाद मांचू राजाओं के साथ भी कुछ ऐसा ही रहा। मांचू राजा हमारे तिब्बती गुरुओं के शिष्य बन गए और यह रिश्ता गुरु-शिष्य का हो गया। गुरू लोग मांचू राजाओं से काम लेते रहे। इसलिए बाहर के लोगों को ऐसा आभास होता रहा कि शायद ये सब लोग एक ही हैं, एक ही राष्ट्र हैं। इसीलिए तेरहवें दलाई लामा को व्याख्या करनी पड़ी कि यह संबंध केवल गुरु-शिष्य का है। यह संबंध कोई मालिक देश और दास देश वाला नहीं है। दुनिया में इस बारे में ठीक तरह का प्रचार नहीं हुआ अन्यथा हमारे भीतर इस बारे में कोई अस्पष्टता नहीं थी।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद तिब्बत की जो दुर्दशा हुई है उसके लिए केवल हमारी लीडरशिप का अज्ञान ही कारण रहा है। मांचू राज समाप्त हो गया। पिछले साल धर्मशाला में जो 'फाइव-फिफ्टी' कान्फ्रेंस हुई थी उसमें भी मैंने कहा था कि हमें अपने 1945 से लेकर 1951 तक और 1890 से लेकर 1950 तक अपने 'सिक्स-सिक्स्टी' के अनुभव से भी सीखना चाहिए। इन्हीं वर्षों में तो हमारा सब कुछ चौपट हुआ था। ब्रिटिश इंडिया तब तिब्बत के साथ संबंध बनाने का प्रयास कर रहा था और इसमें सिक्किम के राजा उनकी मदद कर रहे थे। उन्होंने बहुत बार प्रयास किए लेकिन हमारे तिब्बती प्रशासन की ओर से कोई सही जवाब नहीं दिया गया। इस उदासीनता को देखकर ब्रिटिश इंडिया सरकार ने चीन से कहा कि वह तिब्बत के रास्ते कुछ ट्रेड रूट विकसित करना चाहते हैं और तिब्बत के साथ व्यापार करना चाहते हैं। तब चीन के कहने पर 1890 में ब्रिटिश इंडिया और चीन के बीच एक संधि हुई जिसमें कहा गया था कि चीन सरकार उसे तिब्बत में व्यापार सुविधाएं देगी। लेकिन जब ब्रिटिश अधिकारियों ने तिब्बत से ये सुविधाएं मांगी तो तिब्बत ने स्पष्ट कर दिया कि चीन कौन होता है हमारे देश की सुविधाओं के बारे में फैसला करने वाला? तिब्बत सरकार ने ब्रिटिश इंडिया सरकार को स्पष्ट कर दिया कि हम चीन के साथ उनकी किसी संधि को मान्यता नहीं देते।

इस प्रश्न पर 1899 और 1900 के बीच ब्रिटिश इंडिया और तिब्बत के बीच एक छोटी लड़ाई हुई। लेकिन तब भी कोई बात नहीं बनी। फिर ब्रिटिश इंडिया ने 1904 में कर्नल यंग हसबैंड के नेतृत्व में तिब्बत सरकार से बात करने के लिए अपनी सेना की एक टुकड़ी ल्हासा भेजी। यंग हसबैंड के इस हमले के बाद उसे समझ में आया कि तिब्बत की बहुत कठिन भौगोलिक स्थिति और मौसम की कठिनाइयों के कारण ब्रिटिश सेना वहां लगातार नहीं रह सकती। इसलिए वह ल्हासा सरकार के साथ व्यापार संधि करके वापस भारत चला गया। उस समय तिब्बत सरकार की यह गलती रही कि उसे उसी समय तिब्बत और ब्रिटिश इंडिया सरकार के बीच कूटनीतिक रिश्ते स्थापित कर लेने चाहिए थे। लेकिन उस समय की तिब्बत सरकार के पास कूटनीतिक रिश्तों के बारे में कुछ समझ नहीं थी और इसकी भी जानकारी नहीं थी कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर रिश्ते बनाने का क्या अर्थ होता है। उसके पास सिवाए कबीलों के बीच आपसी रिश्तों के न तो कोई खास अनुभव था और न जानकारी। यंग हसबैंड के साथ युद्धविराम संधि में यह तय हुआ कि तिब्बत और ब्रिटिश इंडिया के बीच सीमा का निर्धारण किया जाना चाहिए। उस समय यह भी तय हुआ कि तिब्बत सरकार ब्रिटिश सरकार को लड़ाई के मुआवजे के तौर पर चार लाख रु देगी और जब तक वह नहीं चुकाया जाता तब तक चुशूल जिला ब्रिटिश इंडिया के नियंत्रण में रहेगा। कुल मिलाकर हालत यह थी कि तिब्बत सरकार को इस बात की कोई जानकारी नहीं थी कि पड़ोसी देशों के साथ अंतरराष्ट्रीय स्तर के रिश्ते कैसे रखे जाते हैं।

ब्रिटिश सरकार तिब्बत को स्वतंत्र देश के रूप में मान्यता देने से इसलिए संकोच कर रही थी कि उसे डर था कि कहीं वह कम्युनिस्ट सोवियत संघ के साथ रिश्ते न बना ले। इसी कारण से उसने तिब्बत के मामले में चीन को महत्व दिया। बाद में जब भारत तिब्बत सीमा का सर्वेक्षण पूरा करने के बाद भारत-तिब्बत-चीन के बीच 1913 में शिमला वार्ता हुई तब तिब्बत और चीन के रिश्ते में तिब्बत की सार्वभौमिकता स्वीकार करने के बजाय ब्रिटेन ने तिब्बत पर चीन की 'सुजरेनटी' का नाम दिया। इसी वार्ता में मैकमोहन रेखा पर भारत और तिब्बत के बीच सीमा समझौता हुआ था। उस समय भी ल्हासा सरकार को किसी ने सलाह दी थी कि उसे ब्रिटिश इंडिया और चीन के साथ बातचीत के लिए शिमला वार्ता करनी चाहिए। तब कहीं तिब्बती प्रतिनिधिमंडल इसमें शामिल हुआ। वरना उन्हें पता ही नहीं था कि इन वार्ताओं का महत्व क्या होता है। लेकिन शिमला में तिब्बत-चीन सीमा निध ारित करने पर सहमति नहीं हो सकी क्योंकि तिब्बत तो राजी था पर चीन ने सहमति से मना कर दिया। उस समय भी तिब्बती पक्ष को कहना चाहिए था कि अगर चीन अभी नहीं मान रहा तो बाद में बातचीत जारी रखी जाएगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। उस वार्ता में चीन ने तिब्बत की ओर से ब्रिटिश इंडिया सरकार को युद्ध क्षति का भुगतान कर दिया। लेकिन ब्रिटिश पक्ष ने तिब्बत सरकार से चुशूल का नियंत्रण वापस लेने को कहा तो तिब्बत सरकार ने यह कहकर मना कर दिया कि वह चीनी भुगतान को नहीं मानती और वह खुद पैसा इकट्ठा कर रही है।

विजय - तिब्बत में 1913 के बाद आधुनिक शिक्षा शुरू करने और शिमला वार्ता के बाद भी अंतरराष्ट्रीय कूटनीतिक संबंध स्थापित करने के मामले में तिब्बत क्यों पिछड़ गया?

प्रो रिन्पोछे - अज्ञान की बात है। किसी को जानकारी ही नहीं थी। वो कूप मंडूक की तरह जैसा चल रहा था वैसा ही रखा गया। अब आप देखिए कि भारत सरकार ने 1947 में नई दिल्ली में जो अफ्रो-एशियन कान्फ्रेंस बुलाई थी उसमें तिब्बत, चीन, भूटान आदि देशों को अलग-अलग देश मानकर आमंत्रित किया गया था। उस समय चीन ने बहुत विरोध किया लेकिन भारत नहीं माना और उसमें तिब्बती और चीनी प्रतिनिधिमंडलों ने अलग देशों के रूप में भाग लिया। लेकिन इस क्रम को तिब्बत की ओर से आगे नहीं बढ़ाया गया। उस यात्रा में तिब्बती प्रतिनिधिमंडल गांधी जी से भी मिला। लेकिन कोई अर्थवान बात नहीं हुई। उन्होंने गांधी जी को बढ़िया तिब्बती कालीन और जो अन्य चीजें भेंट कीं वे न तो गांधी जी के उपयोग की थीं और न उनकी रुचि के अनुकूल। भारत के स्वाधीन होने के बाद नेहरू जी ने प्रधानमंत्री के तौर पर तिब्बत सरकार को पत्र लिखा कि ब्रिटिश काल में भारत और तिब्बत के बीच जो संधियां हुई हैं, उन्हें हम पूरा आदर देंगे और आगे भी इन संबंधों को कैसे बढ़ाना चाहते हैं। लेकिन

ल्हासा सरकार ने नौ महीने तक इस पत्र का जवाब ही नहीं दिया। और जब जवाब दिया तो उस जवाब का सही रिकार्ड तो मुझे नहीं मिल पाया लेकिन जो पता चला उसके मुताबिक तिब्बत सरकार ने भारत सरकार के साथ आगे संपर्क बनाए रखने की बात तो कही लेकिन इसके साथ यह भी लिख दिया कि सीमा को लेकर कुछ बातें हैं और दार्जिलिंग तथा कलिंपोंग आदि कई इलाके तिब्बत को वापस किए जाने चाहिए। इसके बाद जब तक चीन ने तिब्बत पर कब्जा नहीं कर लिया तब तक ल्हासा सरकार अपने आपको एक राष्ट्र के रूप में भी पेश नहीं कर पाई।

विजय - और यूएनओ में भी तो तिब्बत सदस्य नहीं बन पाया?

प्रो रिन्पोछे - यूएनओ में तो हम गए ही नहीं। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जब शाकाबपा के नेतृत्व में तिब्बत का प्रतिनिधिमंडल विजेता देशों को बधाई देने और सोना खरीदने के लिए भेजा गया तब अमेरिका सरकार ने उन्हें कहा था कि तिब्बत को यूएनओ का सदस्य बन जाना चाहिए। और इसमें अगर पैसे की कमी हो तो हम मदद करेंगे। लेकिन प्रतिनिधिमंडल ने जब यह संदेश काशाग (तिब्बती मंत्रिमंडल) को भेजा तो उसका जवाब आया कि तुम्हें जिस काम के लिए भेजा है बस उसी पर ध्यान दो और बाकी इधर-उधर की बातों पर ध्यान मत दो। उस यात्रा के लिए पहली बार तिब्बती पासपोर्ट बने थे जो आजकल कुछ म्यूजियम में रखे हैं। उन पर तेरह चौदह देशों का वीजा भी लगा हुआ है। इस तरह अपनी नेशनहुड और अपने अंतरराष्ट्रीय संबंधों के बारे में जागरूकता न होने के कारण तिब्बत के हाथ से ये सब अवसर हाथ से निकल गए।

विजय - क्या आपको लगता है कि अगर दूसरे देशों के साथ आधुनिक शिक्षा का संबंध बनाया गया होता तो तिब्बती बच्चे बाहर जाते और अपने साथ नए विचार भी लाते?

प्रो रिन्पोछे - 1904 की बात है जब दस पंद्रह लोगों को विदेश भेजा गया था। कुछ लोग भारत में कलिंपोंग और दार्जिलिंग में पढ़कर लौटे। उस समय तिब्बत में भी स्कूल खोलने का प्रयास किया गया। लेकिन तब मठों की ओर से इसका विरोध किया गया जिसके कारण स्कूल को बंद करना पड़ा। कई मठों की आशंका थी कि अगर बच्चे यह शिक्षा लेंगे और विदेशी भाषा पढ़ेंगे तो वे धर्म विरोधी हो जाएंगे और लोग मठों में नहीं आएंगे। और जब फुटबाल खेल शुरू हुआ तो उसका भी यह कह कर विरोध किया गया कि यह धर्म विरोधी खेल है क्योंकि वे लोग भगवान बुद्ध के सिर को लात मार रहे हैं।

विजय - इस समय अंतरराष्ट्रीय स्तर पर दलाई लामा जी की जो लोकप्रियता है क्या चीन उसका मुकाबला कर पाएगा?

प्रो रिन्पोछे - दलाई लामा जी का जितना भी प्रभाव है वह लोगों के दिलों पर है। तिब्बत के भीतर और बाहर के साठ लाख तिब्बती उन्हें चाहते हैं। यहां तक कि चीनी नागरिक भी खतरा उठाकर उन्हें देखने और उन्हें सुनने के लिए आते हैं। यह प्रभाव तो पिछले साठ साल में लगातार बढ़ रहा है, घटा नहीं। इस प्रभाव को कम करने के लिए चीन सरकार ने प्रचार माध्यम, राजनयिक माध्यम और षडयंत्रों के माध्यम से बहुत कुछ किया है। जिस जिस देश में भी दलाई लामा जी जाना चाहते हैं, चीन सरकार वहां की सरकारों को धमकी देती है। इसी तरह वह दलाई लामा जी के विरोध में प्रदर्शन के लिए पैसा देती है। चीनी दूतावास इस दिशा में बहुत सक्रिय रहते हैं। लेकिन वे दलाई लामा जी की लोकप्रियता को दबा नहीं पाए। दलाई लामा जी की इतनी बड़ी नैतिक शक्ति होगी इसका हम लोगों को भी पहले कभी अनुमान नहीं था। इस प्रभाव को कम करने के लिए अगर चीन जैसा बड़ा देश इतने प्रयास कर रहा है जो यह केवल दलाई लामा जी की नैतिक शक्ति को ही दिखाता है। लेकिन चीन इसे कम नहीं कर पाएगा।

लेकिन यह कहना कठिन है कि इस सबका तिब्बत के प्रश्न को हल करने पर असर पड़ेगा, क्योंकि यह एक राजनीतिक प्रश्न है। जब तक चीन के संपूर्ण प्रशासनिक ढांचे में कोई सकारात्मक परिवर्तन नहीं आता तब तक इस समस्या का कोई समाधान निकलने वाला नहीं है। चीन के प्रशासनिक ढांचे में निकट भविष्य में कोई परिवर्तन होने वाला है ऐसा कोई संकेत दिखाई नहीं दे रहा। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि इस समय चीन में जो प्रशासनिक ढांचा है, वह स्थायी रूप से चलने वाला नहीं है। लेकिन अभी अगले पचास बरस या सौ बरस इसमें परिवर्तन होगा यह कह पाना कठिन है।

विजय - लेकिन इस समय चीन के पास जिस तरह की आर्थिक और सैनिक शक्ति है और उसके बूते पर वह जिस तरह से अपने देश के अलावा दूसरे देशों से व्यवहार कर रहा है उसे देखते हुए तिब्बत के लिए और अन्य एशियाई देशों के लिए किस तरह का संकट आपको दिखाई दे रहा है?

प्रो रिन्पोछे - संकट तो है ही। लेकिन इसे बहुत कम लोग देख पा रहे हैं। हम तो क्योंकि भुक्तभोगी हैं इसलिए हमें मालूम है। अब शायद इस संकट को अमेरिका ने भी पहचाना है। इसलिए भले ही कुछ गड़बड़ियां हो रही हैं लेकिन उसके बावजूद वर्तमान अमेरिकी राष्ट्रपति की जो नीतियां हैं और उनमें चीन के साथ जो टकराव हो रहा है, उसके पीछे केवल आर्थिक कारण नहीं हैं। उन्हें भय है कि भविष्य में चीन की ओर से उन पर बुरा प्रभाव होने वाला है। इसलिए अब हम देख रहे हैं कि अमेरिका, यूरोप, लैटिन अमेरिका और अफ्रीका में जिस तरह से दस साल पहले तक जो लोग चीन की पूजा कर रहे थे, उनकी राय में अब परिवर्तन हो रहा है। क्योंकि चीन का व्यवहार ही ऐसा है कि वह जितनी मदद करता है उससे ज्यादा की मांग करने लगता है। इसलिए अगर आप पिछले पांच साल के भीतर अफ्रीका, लैटिन अमेरिका और कुछ हद तक यूरोप में चीन के साथ संबंधों की समीक्षा करेंगे तो पाएंगे कि ऐसे हर देश में चीन के प्रति संशय पैदा हो गया है। क्योंकि तथ्यों को बहुत देर तक न तो छिपाया जा सकता है न उनकी उपेक्षा की जा सकती है। मैं विशेष रूप से पाकिस्तान, नेपाल, म्यांमार और लाओस, कंबोडिया जैसे कुछ देशों को देख रहा हूं। इन्हें निकट भविष्य में चीन के साथ कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, ऐसा अब दिखाई देने लगा है। जापान इससे बचा हुआ है और दक्षिण कोरिया तथा वियतनाम जैसे देश इसके प्रति पहले से ही बहुत सतर्क हैं।

विजय - पिछले साठ साल से भारत में रहने वाले तिब्बती शरणार्थी समाज का भारत को क्या योगदान रहा है?

प्रो रिन्पोछे - इस बारे में कोई प्रमाणिक अध्ययन तो हुआ नहीं है। लेकिन फिर भी कुछ बातें हैं जो स्पष्ट दिखाई देती हैं। एक तो प्राचीन भारत विद्या, विशेष रूप से बौद्ध विद्या जो भारतवर्ष से लगभग समाप्त हो चुकी थी और कुछ हद तक अज्ञात हो

चुकी थी, वह पुनर्जीवित हो गई है। जैसे अगर सारनाथ इंस्टीट्यूट (सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ हायर टिबेटन स्टडीज) को ही देखें तो पाएंगे कि संस्कृत के विलुप्त हो चुके लगभग दो सौ ग्रंथों का तिब्बती भाषा से पुन: अनुवाद करके उनका पुनरुद्धार किया जा चुका है। दूसरे लद्दाख, लाहौल स्पीति, किन्नौर, उत्तरकाशी, सिक्किम, भूटान, अरुणाचल प्रदेश और नगालैंड जैसे क्षेत्रों में जहां भोटभाषी बौद्ध मतावलंबी रहते हैं उन क्षेत्रों में बहुत जागरण आया है। वहां से बहुत बड़ी संख्या में गेशे और पीएचडी स्तर के विद्वान निकल रहे हैं।

जगन्नाथ उपाध्याय जी कहा करते थे कि भारतीय सीमा की सुरक्षा केवल सेना से नहीं होगी बल्कि संस्कृति के माध्यम से भी होगी। मैं पिछले पचास बरस में देख रहा हूं कि भारत की हिमालयवर्ती सीमा चीन के मानसिक और आर्थिक लोभ के प्रभाव से चीन की ओर जाने से जिस तरह रुकी रही है वह सांस्कृतिक जागरण के कारण ही रुक पा रही है। जब हम उपाध्याय जी को यह कहते हुए सुनते थे तब लगता था कि वह कुछ ज्यादा बढ़ा-चढ़ा कर कह रहे हैं। लेकिन उसमें अब सच्चाई दिख रही है। जैसे पाकिस्तान के कब्जे वाले कुछ इलाकों के लोगों के मन पर चीन ने कब्जा करके उन्हें हथिया लिया है वैसा भारतीय सीमांत प्रदेशों के लोगों पर वह नहीं कर पाया है। जैसे लद्दाख में आए दिन चीन अतिक्रमण करता रहता है लेकिन वहां के लोगों की जागरुकता के कारण वह सफल नहीं हो पाता।

दलाई लामा जी कुछ बातों पर विशेष ध्यान देते हैं। एक है सेकुलर-एथिक्स और दूसरी है एंशिएंट इंडियन विजडम (प्रचीन भारतीय ज्ञान)। ऐसा लगता है कि आने वाले बीस पच्चीस वर्षों में इन दोनों क्षेत्रों में भारत का बहुत बड़ा योगदान होगा। एक और चीज जो मैं देख रहा हूं कि पिछले पचास वर्ष में बौद्धमत की लोकप्रियता बहुत तेजी से बढ़ रही है और वर्तमान सदी में यह और महत्वपूर्ण होने जा रही है। राजनीतिक दृष्टि से कुछ लोग इसे सॉफ्ट-पावर मानने लगे हैं। चीन इसके महत्व को समझ रहा है। इस सॉफ्ट-पावर को चीन उपयोग कर पाएगा या भारत यह देखने की बात है। यह न तो धर्म की बात है और न नैतिकता की। लेकिन आज की शासन व्यवस्था और देशों की सॉफ्ट-पावर के विचार की दृष्टि से भारत को फिर से तिब्बती बौद्ध ज्ञान का केंद्र बनाने के मामले में तिब्बती शरणार्थी समाज का योगदान बहुत बड़ा रहा है।

इस समय जितने भी बड़े तिब्बती बौद्ध मठ और केंद्र हैं जहां बौद्ध उच्च अध्ययन की व्यवस्था है, उनमें लगभग 70 प्रतिशत विद्यार्थी भारतीय और नेपाली तथा कुछ हद तक मंगोलिया के हैं। तिब्बती विद्यार्थियों का अनुपात अब केवल लगभग 30 प्रतिशत है। क्योंकि तिब्बत से आने वाले शरणार्थियों का प्रवाह लगभग रुक चुका है। अगर आप दक्षिणी भारत के तिब्बती मठों में जाएं तो वहां आप एक प्रभावशाली और सुनियोजित शिक्षा तंत्र पाएंगे जहां के अध्ययन केंद्रों से निकलने वाले गेशे स्तर के विद्वान केवल बौद्ध ज्ञान नहीं बल्कि आधुनिक विज्ञान और दूसरी भाषाओं के भी जानकार हैं। यह एक बहुत बड़ा नैतिक और ज्ञान का बल है जो भारत को तिब्बती शरणार्थी समाज की देन है।

विजय - तिब्बत के प्रश्न के हल में भारत की भूमिका के बारे में आप क्या सोचते हैं?

प्रो रिन्पोछे - तिब्बत के प्रश्न को संपूर्ण जगत में उजागर करने में और उसे जीवित रखने में जितना योगदान भारत ने दिया है उतना किसी और देश ने नहीं दिया। तिब्बती शरणार्थी केवल भारत में नहीं बसे हैं, बल्कि लगभग पचास देशों में रह रहे हैं। दूसरे देशों में जाने के बाद उनमें से अधिकांश शरणार्थी वहीं के समाज का हिस्सा बन जाते हैं। उनकी अलग पहचान बहुत कम रह जाती है। लेकिन भारत में वे अलग पहचान बनाकर रखे हुए हैं। भले ही उनकी संख्या बहुत ज्यादा नहीं है। अगर भारत में रह रहे बंगलादेशी, श्रीलंका के तमिल शरणार्थी और अफगानी शरणार्थियों के मुकाबले देखा जाए तो तिब्बती शरणार्थियों की संख्या बहुत कम है। लेकिन स्वेटर बेचने वालों के रूप में, रेस्टोरेंट और ट्रैवल एजेंसियां चलाने वालों और दुकानदारों के रूप में वे हर जगह पहचाने जा सकते हैं। तिब्बती शिक्षा और सांस्कृतिक संस्थान भी भारत के कई हिस्सों में पहचाने जाते हैं। इनमें से बहुत कुछ विशेष प्रयासों से हुआ है और बहुत कुछ स्वत: होता आ रहा है। यह केवल भारत में ही संभव है। मेरे एक जापानी विद्वान मित्र ने एक बार मुझसे कहा था कि अगर मैं जापान में रहता तो वहां एक विद्वान के रूप में किसी संस्थान में दूसरे या तीसरे स्थान तक पहुंच सकता था। लेकिन मुझे कभी किसी संस्थान का सर्वोच्च पद नहीं मिल सकता। भारत में स्थिति यह है कि मैं विश्वविद्यालयों के वाइस चांसलर की राष्ट्रीय कमेटी का अध्यक्ष भी रहा हूं। उन दिनों भी मेरे एक जर्मन एकेडेमिक मित्र ने मुझे कहा था कि अगर मैं जर्मनी में शरण ार्थी के रूप में रह रहा होता तो मुझे इतना बड़ा पद कभी नहीं मिल सकता था। यह आत्मीयता भारत के स्वभाव में है। भारत में तिब्बती शरणार्थियों को जो आत्मीयता मिली है वह यूरोपीय या दूसरे कई देशों में संभव नहीं है।

कुल मिलाकर भारत में हमें कभी यह महसूस नहीं होने दिया गया कि हम अपने देश में नहीं हैं, किसी दूसरे देश के हैं या पराए हैं। इसका तिब्बती शरणार्थी समाज को बहुत लाभ हुआ है। लेकिन जहां तक राजनीति की बात है, मुझे निकट भविष्य में इस बात की संभावना तो नहीं दिखाई दे रही कि भारत सरकार चीन पर कूटनीतिक दबाव डालकर तिब्बत के लिए समाधान निकालने के लिए उसे मना सके। लेकिन भविष्य में ऐसा हो भी सकता है।

विजय - कल्चरल-नेशन के मुकाबले पश्चिम का पोलिटिकल नेशन-स्टेट का विचार दुनिया के इतिहास में बहुत नया है। इसका कैसा भविष्य आप देखते हैं?

प्रो रिन्पोछे - मैं नेशन-स्टेट के विचार को बहुत गहराई से नहीं जानता हूं। लेकिन 'वन नेशन शुड हैव ए स्टेट। या स्टेट शुड हैव ए नेशन, इन दोनों को नैतिकता की दृष्टि से मैं बहुत सही नहीं मानता हूं। प्रारंभ से मनुष्य का नेशन का जो विचार है वह ज्यादातर रेस और जेनेटिक्स पर आधारित रहा है। और आजकल स्टेट भी ज्यादातर मामलों में मल्टी-नेशन स्टेट ज्यादा है। अकेले नेशन-स्टेट बहुत कम हैं। चीन भी अपने संविधान में खुद को मल्टी-नेशन स्टेट कहता है।

वह पांच नेशंस की अवधारणा रखता है। इनमें हान, तिब्बत, मांचू, मंगोल और उइघुर हैं। उसके झंडे में पांच सितारे इन्हीं का प्रतिनिधित्व करते हैं। अगर इन्हें नेशन माना जाए तो हर नेशन एक स्टेट हो सकता है। शुरू में मार्क्सवाद में भी हर नेशन को अपने लिए आत्मनिर्णय लेने और स्वतंत्र देश होने का अधिकार है। लेकिन यह देखना जरूरी है कि ऐसा संभव है भी कि नहीं। अगर इसे हर जगह लागू करेंगे तो बहुत सारे देश खंडित हो जाएंगे।

संस्कृत वाङ्मय में त्रिविष्टप

संस्कृत वाङ्मय में त्रिविष्टप का वर्णन बार-बार आया है। वेदों से लेकर रामायण, महाभारत, पुराणों, महाकाव्यों और यहाँ तक कि अमरकोश में भी त्रिविष्टप का जिक्र है।

एक दृष्टि

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥

(ऋग्वेद 8/91/5)

हे इंद्रदेव आप मेरे पिता के मस्तिष्क, उर्वरा (भूमि या मनोभूमि) तथा मेरे उदर इन तीन स्थलों को विशेष प्रयोजनों के लिए श्रेष्ठ या उपजाऊ बनाएं तथा उस त्रिविष्टप स्थान को प्राप्त कराएं जो सारी पृथ्वी से ऊँचा है और मनुष्यों के लिए सुखकारी है तथा माता के उदर के समान मनुष्यों को पैदा करने का स्थान है।

साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोहि विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदंति॥

(अथर्ववेद 11/1/7)

हे याजक! आप एक साथ जन्मे हुए साथियों के साथ वृद्धि को प्राप्त करें। उच्च पराक्रम वाले कार्य के लिए यज्ञ हविष्य (ब्रह्मौदन) तैयार करें। उस लोक में आरोहण करें, जिसे त्रिविष्टप और स्वर्गलोक भी कहते हैं। वह पृथ्वी से ऊँचा, सुख का देने वाला स्थान है। पृथ्वी का वही भाग जल से सबसे पहले बाहर आया और उसी से मानव की उत्पत्ति हुई। महान वीर्यप्राप्ति के लिए उसको तू प्राप्त कर।

प्राकारावृतमत्यंतं ददर्श स महाकपिः
त्रिविष्टपनिभम् दिव्यम् दिव्य नाद विनादितम्॥

वाल्मीकीय रामायण, सुंदर कांड, सर्ग 4, श्लोक 10

राक्षसराज रावण का महल ऊँची चहारदीवारी से आवेष्टित उन महान कपि वानर हनुमान ने उसे देखा। वह भव त्रिविष्टप स्वर्ग के समान सुंदर एवं अलौकिक था जिसके अंदर भव में दिव्य संगीत की ध्वनि गूँज रही थी।

ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत् त्रिषुलोकेषु विश्रुतम्।
तत्र वैतरणी पुण्यानदी पाप प्रमोचनी।
तत्र स्नात्वा अर्चयित्वा शूलपाणिंवृषध्वजं।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत्परमां गतिम्।

(श्रीवामन पुराण, अध्याय 36, श्लोक 40)

पुंडरीक में स्नान करने के बाद देवताओं द्वारा पूजित त्रिविष्टप नामक तीर्थ में जाना चाहिए। वहाँ पापों से विमुक्त करने वाली पवित्र वैतरणी नदी है। वहाँ स्नान कर शूलपाणि वृषध्वज (शिव) की पूजा कर मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है तथा विशुद्ध होकर निश्चय ही परमगति को प्राप्त कर लेता है।

जनमेजय उवाच –

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य मम पूर्वपितामहाः।
पांडवाः धार्तराष्ट्राश्च कानि स्थानानि भेजिरे॥1॥

महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, श्लोक 1

जनमेजय बोले– फल के उत्कर्ष से त्रिभुवन जिसके अंतर्भूत होता है, वह त्रिविष्टप स्वर्गलोक लाभ करने पर मेरे पूर्व पितामह पांडवों तथा धार्तराष्ट्र आदि को कौन से स्थान प्राप्त हुए थे?

वैशम्पायन उवाच –

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य तव पूर्वपितामहाः।
युधिष्ठिरप्रभृतयो यदकुर्वत तच्छृणु॥3॥

महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, श्लोक 3

श्री वैशम्पायन मुनि बोले – तुम्हारे पूर्व पितामह युधिष्ठिर इत्यादि ने त्रिविष्टप स्वर्ग का लाभ करके जो किया था, उसे सुनो।)

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः।
दुर्योधनं श्रिया जुष्टं ददर्शासीनमासने॥4॥

महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, श्लोक 4

धर्मराज युधिष्ठिर ने त्रिविष्टप में जाकर श्रीसंपन्न दुर्योधन को आसन पर बैठे हुए देखा।

असौकुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपतस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः।
गुर्वीं धुवं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं विभर्ति॥78॥

कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य, सर्ग – षष्ठ, श्लोक 78

जैसे देवराज इंद्र के परम प्रतापी पुत्र जयंत हुए थे, वैसे ही ये कुमार अज भी उन्हीं प्रतापी रघु के पुत्र हैं और अपने प्रतापी पिता के समान ही ये भी राज्य का सब काम संभाले हुए हैं।

त्रिविष्टप वधूमुष्टिभ्रष्टैर्लाजैरितस्ततः॥
अभिवृष्टो महादेवः संप्रहृष्टतनूरुहः॥६॥

स्कन्दपुराणम्/खण्डः ४ (काशीखण्डः)/अध्यायः ०५७

त्रिविष्टप एक ऐसा स्थान है जहाँ महादेव की कृपा से चारों तरफ संपन्नता दिखाई देती है, बिलकुल वैसे ही जैसे नई आई हुई वधू के हाथ से छींटे गए धान के लावे।

अयम स्वर्गनाक त्रिदियम त्रिदिशालय।
सुरलोको द्योः दिवाद्वै स्त्रियां क्लीवे त्रिविष्टिपम॥

यह त्रिविष्टप वस्तुतः स्वर्ग का स्थान है; जहाँ तीनों लोक एवं सभी दिशाएं मिलती हैं। यह देवताओं का वह निवास स्थान है जो हमेशा दिव्य प्रकाश से आलोकित होता रहता है। स्त्रियों का मधुर कोलाहल यहाँ हमेशा व्याप्त रहता है।

अमरकोश

इष्टाविशिष्टमतयोऽपि यया दयाद्र, दृष्ट्या त्रिविष्टप पदं सुलभं लभन्ते।
दृष्टिः प्रहृष्ट कमलोदरदीप्ति रिष्टां, पुष्टिं कृषीष्ट मम पुष्कर विष्टरायाः॥९॥

कनकधारा स्तोत्र, श्लोक 9

विशिष्ट बुद्धि वाले मनुष्य जिनके प्रीति पात्र होकर जिस दया दृष्टि के प्रभाव से त्रिविष्टप (स्वर्ग) पद को सहज ही प्राप्त कर लेते हैं, पद्मासन पद्मा की वह विकसित कमल गर्भ के समान कांतिमयी दृष्टि मुझे मनोवांछित पुष्टि प्रदान करें।

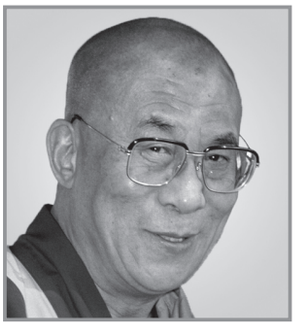

परम पावन चौदहवें
दलाई लामा

तिब्बती साहित्य में संस्कृत

संस्कृत विश्व की सबसे प्राचीन भाषा होने के साथ-साथ सबसे वैज्ञानिक भाषा भी है। तिब्बती संस्कृति में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है

विश्व साहित्य के प्रचार प्रसार में संस्कृत द्वारा निभाई गयी भूमिका तथा भारतीय संस्कृति के साहित्यिक वाहक के रूप में सेवा के लिए किसी भी परिचय की आवश्यकता नहीं है। यह सभी भाषाओं का उद्गम ही नहीं है बल्कि इसने कई अन्य देशों की संस्कृति के प्रचार-प्रसार के प्रति हर संभव कदम उठाए हैं। इसलिए संस्कृत को सभी भाषाओं की पैतृक भाषा भी कहा जा सकता है।

यहाँ भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के गुणों को दोबारा वर्णित करना आवश्यक नहीं है। इसके स्थान पर हमें अपनी बात मात्र संस्कृत भाषा द्वारा तिब्बती साहित्य एवं संस्कृति को प्रदत्त सेवाओं तक ही केंद्रित रखनी चाहिए। तिब्बती में संस्कृत को "लेग-जार इहा का" (लेग्स-ब्यार इहा सकद) कहा जाता था, जिसका अर्थ है 'देवताओं की पवित्र भाषा'। देवों की भाषा बुद्ध दर्शन के ज्ञान में और प्रतिष्ठापित हुई।

यद्यपि बौद्ध धर्म तिब्बत में औपचारिक रूप से पांचवीं शताब्दी में राजा लहा-त ओ- री ज्ञान बिजम के शासनकाल में आया। तिब्बत के पास अपनी स्वयं की कोई लिपि नहीं थी। सातवीं शताब्दी में तिब्बत के महान राजा स्रोंग बीजम सगम पो ने अपने निस्वार्थ प्रयास के माध्यम से तोंन मी जाति (उसे यह नाम उसके भारतीय साथियों ने दिया था) के भाषाई विद्वान थों-मी सैम भो ता या नोबल भोता को सोलह अन्य विद्वानों के साथ भारत संस्कृत भाषा अध्ययन करने के लिए और इस प्रकार तिब्बती की एक लिखित लिपि विकसित करने के लिए भारत भेजा।

नालंदा और भारत के अन्य हिस्सों में अध्ययन करने के उपरांत थों-मी सैम भो ता ने पहली तिब्बती लिखित भाषा तिब्बत को दी और उसे नागरी अक्षरों के साथ रूप दिया। तिब्बती वर्णमाला में दो अलग अलग सेट हैं : एक पांच स्वर और मानक प्रयोग में तीस व्यंजनों का तथा दूसरा है संस्कृत क्रम में तीस चौंतीस व्यंजनों एवं सोलह स्वरों का, जिसमें संस्कृत भाषा की सभी ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है। इसे संस्कृत तिब्बती शब्दमाला में औपचारिक सूत्रों में तथा मुख्य संस्कृत शब्दों एवं मुहावरों को व्यक्त करने के लिए प्रयोग किया जाता है। महत्वपूर्ण यह भी है कि आज भी अनुष्ठान तथा मंत्रों के सूत्रों को तिब्बती पाठों में संस्कृत में ही पढ़ाया जाता है।

जब तोंन मी जाति सैम ब्रो त्रा अपने सबसे महत्वपूर्ण एवं राजसी अभियान में सफल हुए तो उन्होंने अन्य तिब्बती विद्वानों को भी तीन मत संबंधी संवाहकों की कई पवित्र मूर्तियों का अनुवाद करने के लिए भेजा। यह अनुवाद अत्यधिक शुद्धता से भरे हुए थे। कोई भी इन सटीक, निष्ठावान एवं साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुवादों से प्रभावित हो सकता है। विद्वान एवं पंडित इस बात पर सहमत होते हैं कि कई अनुच्छेद जो संस्कृत में अस्पष्ट एवं जटिल थे, वह भी तिब्बती अनुवादों के माध्यम से स्पष्ट हो गए।

मूल संस्कृत साहित्य के तिब्बती अनुवाद तो प्राकृतिक एवं मानवनिर्मित विध्वंस से बचकर आ गए, जबकि कई मूल संस्कृत ग्रंथों को कई तरह के विध्वंस का शिकार होना पड़ा तथा वह अपनी भावी पीढ़ी के लिए कहीं खो गए। उदाहरण के लिए कई संस्कृत ग्रंथ जिनसे बका गयूर तथा बस्तान गयूर, जो हमारी सबसे पवित्र पुस्तकें हैं, उनका अनुवाद जिन ग्रंथों से हुआ, उनमें से अधिकतर ग्रंथ खो चुके हैं. तिब्बती अनुवाद उन स्रोत

सामग्रियों का एकमात्र उपलब्ध अनुवाद है, जो निष्ठावान तरीके से मूल पाठ को संरक्षित रखे हुए हैं। इस प्रकार, बका गयूर तथा बस्तान गयूर ग्रंथों को संस्कृत में ताड़ के पत्तों पर लिखा गया था, तथा उन्हें तिब्बत के कई मठों में संरक्षित करके रखा हुआ है। तिब्बती उन शताब्दियों पुरानी ताड़ की पत्तियों को मूल्यवान संपत्ति मानते हैं।

मानवजाति के इतिहास में एक विलक्षण युग, अर्थात संस्कृत पाठों का संस्कृत से तिब्बती में अनुवाद सत्रहवीं शताब्दी तक निर्बाध रूप से जारी रहा। सर्वाधिक बुद्धिमान तिब्बती विद्वानों को नालंदा तथा अन्य केंद्रों पर अध्ययन हेतु भेजा गया तथा दूसरी ओर महान पंडित, विद्वान एवं भारत के संतों को तिब्बत में आमंत्रित किया गया। तिब्बती राजा ख्रि स्रोंग आईद्यु बितजम द्वारा आमंत्रित किए गए कई प्रतिभाशाली विद्वानों में से एक थे पद्मसंभव, शांतरक्षित, विमलमित्र, शांतिगर्भ, धर्मकीर्ति, दानशील तथा ज्ञानमित्र।

राजा ख्रि स्रोंग आईद्यु बितजम तथा राल पा कान के शासनकाल के दौरान अनुवादों के कई नियमों की स्थापना की गई। एक भारतीय पंडित तथा तिब्बती विद्वान जिन्हें लो रत्जा बा के नाम से जाना जाता है, उन्होंने अनुवाद किए। इस पद्धति ने तिब्बती भाषा को विस्तार और शब्दावली उतनी ही विस्तृत प्रदान की जितनी विशाल एवं शुद्ध शब्दावली संस्कृत में थी।

बौद्ध धर्म की सीमा से परे हमारे विद्वानों ने अपनी रुचि संस्कृत की साहित्यिक आलोचना, व्याकरण, छंद एवं लय की कला में भी खूब दिखाई। संस्कृत व्याकरण स्रोत

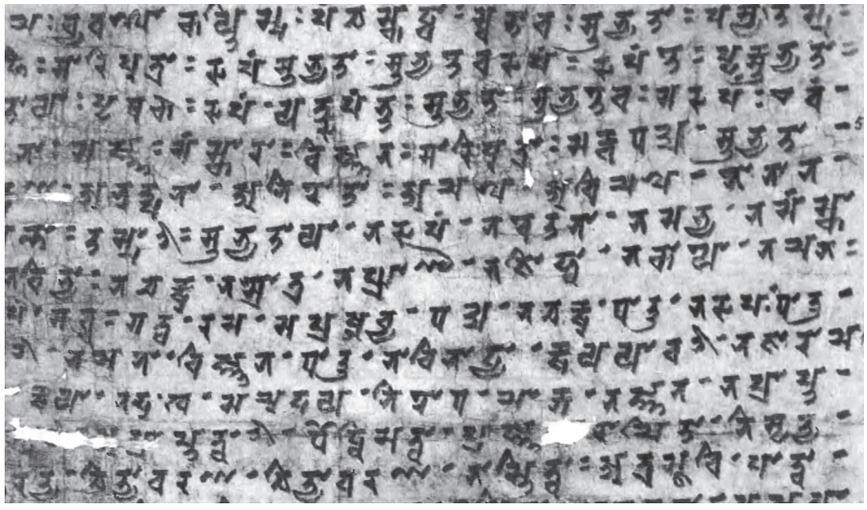

सिद्धम लिपि में हृदय सूत्र की पांडुलिपि
साभार: https://upload.wikimedia.org/wikipedia/commons/9/9e/Prajnyaapaaramitaa_Hridaya_Pel.sogd.jpg

में व्याकरण सम्मिलित था, जैसे पाणिनि, चंद्र, कलाप एवं सरस्वती आदि का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया गया तथा तिब्बत के महान विद्वानों ने उन पर टीकाएं भी लिखीं। कालिदास की कविताओं से प्रभावित होकर उन्होंने तिब्बती में मात्र उनकी जीवनी का ही अनुवाद नहीं किया अपितु उनकी रचना मेघदूत का अनुवाद भी तिब्बती में किया। एक और संस्कृत ग्रंथ अवदान-कल्पलता, जिसकी रचना कश्मीर के महान कवि एवं गीतकार क्षेमेन्द्र ने की थी, उनका भी अनुवाद किया गया, जिसमें 108 अध्याय हैं तथा इनमें मूल पाठ है। इस प्रकार संस्कृत के माध्यम से भारत में जो भी धर्म एवं दर्शन में रचा गया, उन सभी का अनुवाद तिब्बती लोगों के पास उपलब्ध कराया गया।

संस्कृत ने कई मंगोलियाई भाषाओं के लिखित रूप को भी जन्म दिया। शक वंश के चोसरग्याल फाग्स ख्र पा के प्रभाव के अंतर्गत तेरहवीं शताब्दी में मंगोलियाई लिपि को भी तिब्बती अक्षरों में लिखा गया और मंगोलिया में आयात किया गया।

तिब्बती शिक्षण प्रणाली में संस्कृत उन सभी के लिए अनिवार्य है जो उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं। संस्कृत तिब्बती शिक्षा के लिए मूलभूत आवश्यकता है। इसका तिब्बती इतिहास की जीवनधारा में सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान और भविष्य के लिए इसकी महत्ता को समझते हुए, कई तिब्बती आज वाराणसी के संस्कृत विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ रहे हैं।

साभार: द *टिबेट जर्नल,* खंड 4, अंक 2, ग्रीष्म 1979

पोताला महल

ल्हासा शहर के उत्तर पश्चिमी भाग में खड़े लाल पहाड़ी पर स्थित है। यह एक शानदार बुर्जनुमा भवन है जो तिब्बत का एक प्रतीकात्मक वास्तु है। समूचा निर्माण तिब्बती वास्तु शैली में किया गया और पहाड़ पर खड़ा हुआ है। इसका निर्माण 1645 में आरंभ हुआ। यह महल तिब्बत के थुबो राजकाल में राजा सोंगत्सांकांबू ने थांग राजवंश की राजकुमारी वनछङ के साथ विवाह के लिए बनवाया था। 17वीं शताब्दी में उसके पुनर्निर्माण के बाद वह विभिन्न पीढियों के दलाई लामा का आवास बनाया गया। वह तिब्बत के राजनीतिक व धार्मिक मिश्रित शासन का केन्द्र था।

पोताला महल में बेशुमार कीमती चीजें सुरक्षित रखी हुई हैं और देश का एक कलाकृति खजाना माना जाता है। वर्ष 1994 में पोताला महल विश्व सांस्कृतिक विरासत सूची में शामिल किया गया।

पोताला महल के दो भाग हैं- लाल महल और श्वेत महल। ■

साभार: मुक्त ज्ञानकोश विकिपीडिया से

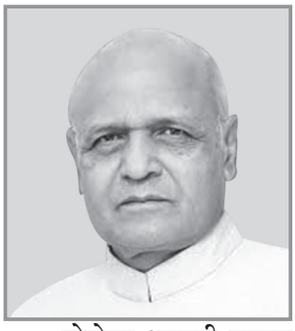

प्रोफेसर भगवती प्रकाश

त्रिविष्टप: विश्व का स्वर्गतुल्य शीर्ष धरातल व नेहरू-युगीन गलतियाँ-1

भारतवर्ष और त्रिविष्टप दोनों एक ही संस्कृति के पवित्र धागे में गुंथे हुए मनके हैं। भारतीय जनजीवन में इस बुनावट के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्व पर एक दृष्टि

तिब्बत अर्थात त्रिविष्टप विश्व का सबसे ऊँचा पठार है, जिसे विश्व की छत भी कहा जाता है।[1] इसके प्राचीन नाम त्रिविष्टप का वर्णन रामायण, महाभारत व पुराणों सहित, विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ वेदों में भी है। अनेक भौगोलिक, सांस्कृतिक व वैज्ञानिक विवेचनों में तिब्बत में स्थित कैलाश पर्वत को भू-नाभिकीय केंद्र अर्थात पृथ्वी का नाभि स्थान या एक्सिस मुंडी भी कहा गया है।

वेदों में त्रिविष्टप

ऋग्वेद व अथर्ववेद में त्रिविष्टप अर्थात तिब्बत को पृथ्वी का सबसे ऊँचा धरातल और सभ्यता का उद्गम स्थल बतलाया है। पाँच हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन ऋग्वेद में राजा के लिये निर्देश है कि "उस त्रिविष्टप नामक स्थान को प्राप्त कर, जो सारी पृथ्वी से ऊँचा व मनुष्यों के लिए परम सुखकारी है तथा माता के उदर के समान मनुष्यों व सभी जीवों की उत्पत्ति स्थल है।"[2]

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥ (ऋग्वेद 8/91/5)

अथर्ववेद में भी त्रिविष्टप को पृथ्वी का शीर्षतम स्थान व मानव सृष्टि का उद्गम स्थल बतलाते हुए लिखा है कि ''हे मनुष्य! जिस त्रिविष्टप को स्वर्ग तुल्य माना जाता है, उस पर तू चढ़। वह पृथ्वी का सबसे ऊँचा व परम सुख का देनेवाला स्थान है। वह पृथ्वी पानी से सबसे पहले बाहर आई और जिसमें सब एक साथ पैदा हुए, समान मनुष्य प्रकट हुए। महान वीर्यप्राप्ति के लिए उसको तू प्राप्त कर।''[3]

साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति॥ (अथर्ववेद 11/1/7)

इस प्रकार वेदों के अनुसार यही स्थान प्रलय के उपरांत सबसे पहले जल से बाहर आया, जो संपूर्ण भूमंडल पर सबसे ऊँचा वर्तमान सभ्यता का उद्गम स्थल है। इसे मनुष्यों के लिए परम सुखकारक बताया है और इसे प्राप्त करने का निर्देश दिया है।

तिब्बत स्थित कैलाश पर्वत सुनियोजित स्थिति

तिब्बत स्थित कैलाश पर्वत को पृथ्वी का नाभिकीय स्थान माना गया है जिसकी कई स्थानों से निर्धारित दूरी है। कैलाश पर्वत पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव से 1:2 अनुपात की दूरी पर स्थित है। उत्तरी ध्रुव से यह 6,666 कि.मी. व दक्षिणी ध्रुव से 13332 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। इंग्लैंड के एक प्राचीन स्मारक स्टोनहेंज से भी इतनी ही 6,666 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। मोहनजोदड़ो व गीजा के पिरामिडों की देशांतर रेखाओं से भी इसकी (कैलाश की) सुनियोजित व सापेक्ष स्थिति भी योजनापूर्वक

नियोजित लगती है। दक्षिणी अमेरिकी ईस्टर द्वीप की पाषाण प्रतिमाओं का कैलाश पर्वत की ओर अभिमुखित होना भी सुनियोजित प्रतीत होता है। ये सभी कैलाश पर्वत को भूमंडल के नाभिकीय स्थान (Axis Mudi) पर होने का निश्चयात्मक संकेत करता है।

तालिका 1: कैलाश पर्वत व अन्य प्रमख स्मारको की सापेक्ष दूरी

1.	कैलाश पर्वत व उत्तरी ध्रुव की दूरी	6,666 कि.मी.
2.	कैलाश पर्वत व दक्षिण ध्रुव की दूरी (6,666 x 2=13,332)	13,332 कि.मी.
3.	कैलाश व इंग्लैंड के (5000 वर्ष प्राचीन पाषण स्मारक) स्टोनहेंज (Stonehenge)	6,666 कि.मी.
4.	स्टोनहेंज व अमेरिका स्थित डेविल्स टॉवर की दूरी	6,666 कि.मी.
5.	स्टोनहेंज से बरमुडा त्रिकोण (Bermuda Triangle) (जहाँ जहाज डूब जाते हैं)	6,666 कि.मी.
6.	बरमुडा त्रिकोण से ईस्टर द्वीप (Easter Island) जहाँ प्राचीन विशाल पाषाण प्रतिमाओं का मुह कैलाश पर्वत की ओर है।	6,666 कि.मी.
7.	ईस्टर द्वीप से तजुमल के पिरामिड (अल सल्वाडोर)	6,666 कि.मी.
8.	उत्तरी ध्रुव से मिस्र के पिरामिड की दूरी	6,666 कि.मी.

साभार : ऐन ऑडिएंस विद गॉड ऐट माउंट कैलाश : दविंदर भसीन, पार्ट्रिज पब्लिकेशन

कैलाश पर्वत व अन्य स्मारकों का देशांतर रेखाओं पर त्रिकोणमितीय नियोजन:

कैलाश पर्वत का अरब क्षेत्र में मिस्र के पिरामिडों व मैक्सिको के टेओटिहुआकान (Teotihuacan) पिरामिडों से देशांतर रेखाओं पर विशेष व सापेक्ष भू-स्थैतिक नियोजन कोई संयोग न होकर किसी सुनियोजित स्थान चयन का ही संकेत देते प्रतीत होते हैं। कैलाश पर्वत स्वयं एक विशालकाय पिरामिड है, जो लगभग 100 अन्य छोटे पिरामिडों का केंद्र है। कैलाश पर्वत की संरचना दिशा-सूचक कम्पास के सभी 4 दिक् बिंदुओं के समानांतर है। भौगोलिक विलक्षणता यह भी है कि यह ऐसे एकांत स्थान पर स्थित है, जहाँ कोई अन्य बड़ा पर्वत ही नहीं है।

पिरामिड आकार का कैलाश पर्वत मेक्सिको स्थित सूर्य के पिरामिडों अर्थात टेओटिहुआकान (Teotihuacan) के पिरामिडों व मिश्र के विशाल पिरामिडों की देशांतर रेखाओं से सापेक्ष स्थिति सर्वथा सुनियोजित लगती है। विश्व भर में फैले अन्य पिरामिडों की भी पिरामिड आकार के कैलाश पर्वत से भू-स्थैतिक सापेक्षता है। इनमें से कुछ स्मारकों की कैलाश से सापेक्ष धरातलीय व चापीय दूरियों के संबंध चित्र संख्या 1-3 के अनुसार सुनियोजित लगते है।

चित्र 1

कैलाश पर्वत: भू-नाभिक?

भूगोल के कई विद्वान इस स्थान को पृथ्वी का नाभिकीय बिंदु या एक्सिस मुंडी (Axis Mundi) मानते हैं जहाँ आकाशीय व भौगौलिक ऊर्जा प्रवाह रेखाओ का भी केंद्र निर्मित होता है। शक्ति प्रवाह का यह एक अलौकिक केंद्र होने से इस पर चढ़ना व इसके ऊपर से वायुयानों का उड़ान भरना कठिन ही नही असंभव है। यह कोई संयोग न होकर, किसी निहित वृहद व विलक्षण

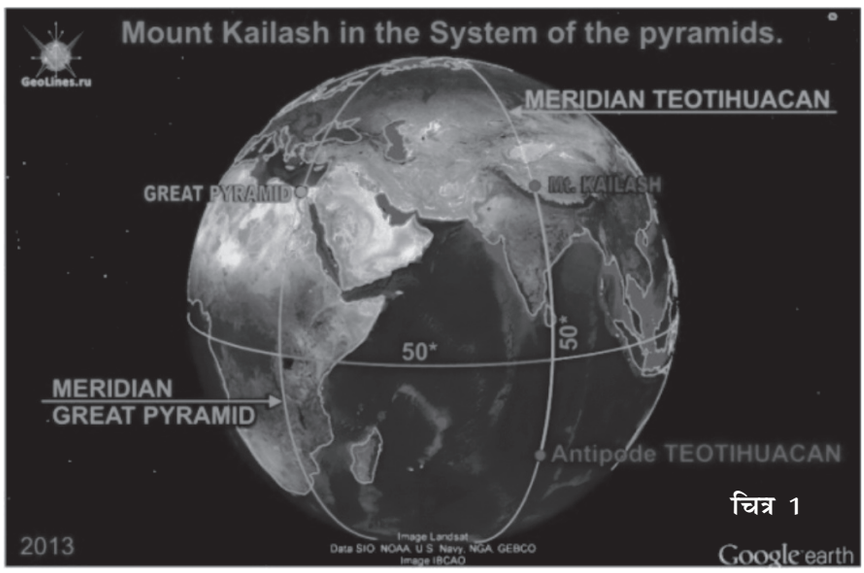

चित्र 1

साभार : http://geolines.ru/eng/publications/NEW-IN-HISTORY/Mount-Kailash.html
http://geolines.ru/netcat_files/18/10/h_f2fd66e1181b7c8ae9d0ab1dc4cdde2f

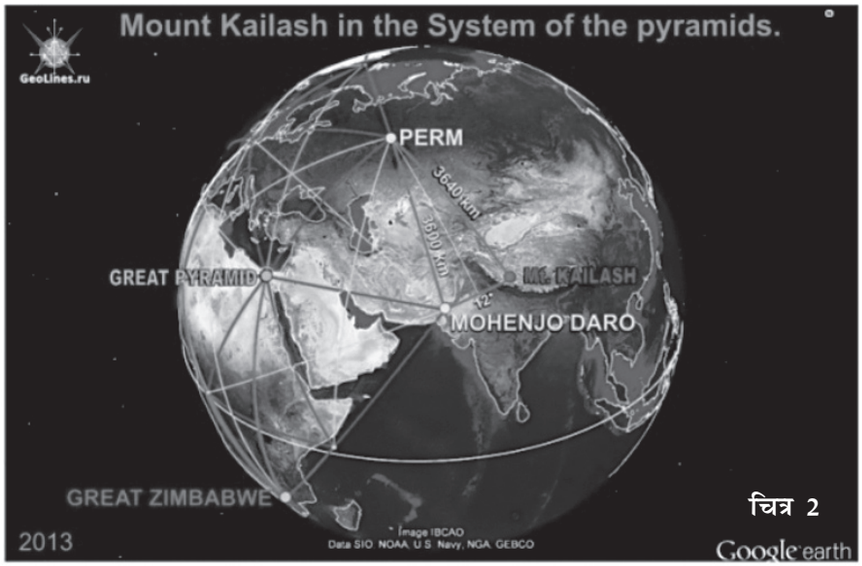

चित्र 2

साभार: *http://geolines.ru/netcat_files/18/10/h_f2a9e8ef7e31c974990b575ebdca3010*

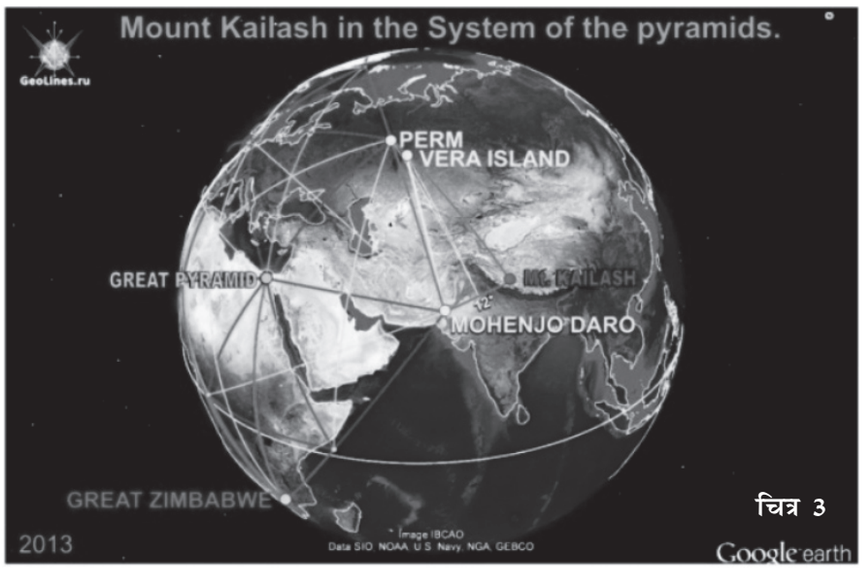

चित्र 3

साभार: *http://geolines.ru/netcat_files/18/10/h_1d18d91b051e51dabfe8e1b203e756ab*

नियोजन या योजना का ही अंग लगता है कि पृथ्वी पर विद्यमान 15 से अधिक प्राचीन रहस्यमय पिरामिडों, कई अन्य पुरातन स्मारकों एवं उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों के बीच निश्चित आनुपातिक दूरियाँ अथवा देशांतर रेखाओं से विशेष संबंध है।

इसलिए, तिब्बत स्थित कैलाश पर्वत को पृथ्वी का ऐसा नाभि केंद्र मानना अतिशयोक्ति नहीं है जहाँ अंतरिक्ष स्थानिक व भू-मंडलीय ऊर्जा प्रवाह अपना केंद्र बिंदु या संगम बिंदु निर्मित करते हैं।

विविधस्मारकोंकीअलास्का-केंद्रित वृत्त पर स्थिति

कैलाश पर्वत से पूर्वोक्त भौगोलिक संबंध युक्त कई स्मारकों की अलास्का केंद्रित एक बडे वृत्त पर स्थित होना भी नियोजित प्रतीत होता है। इसी प्रकार गिजा पिरामिड, कैलाश पर्वत की ओर उन्मुख पाषाण मूर्तियों से युक्त ईस्टर द्वीप, कम्बोडिया स्थित शिव मंदिर-प्रीह विहीर (च्तमी टपीमंत) खजुराहो, मोहनजोदड़ो आदि 17 स्मारकों का अलास्का केंद्रित वृत्त की परिधि पर स्थित होना भी सप्रयोजन बुद्धिमत्तापूर्ण नियोजन का परिणाम प्रतीत होता है। तिब्बत या त्रिविष्टप स्थित कैलाश पर्वत और तिब्बत इस परिधि पर स्थित न होने पर भी इस परिधि के कुछ स्मारको की कैलाश से सुनियोजित दूरी व देशांतर रेखाओं पर सापेक्ष स्थिति या चापीय दूरी भी बुद्धिमत्तापूर्ण व प्रयोजन-पूर्वक नियोजन का परिणाम इंगित करती है और तिब्बत व कैलाश पर्वत को भूमंडल पर विशिष्ट स्थान प्रदान करती है। देखे चित्र क्रमांक 4

चित्र 4: अलास्का केंद्रित वृत्त में विश्व के 17 प्रमुख स्मारक

खजुराहो मोहनजोदड़ो

चित्र 4

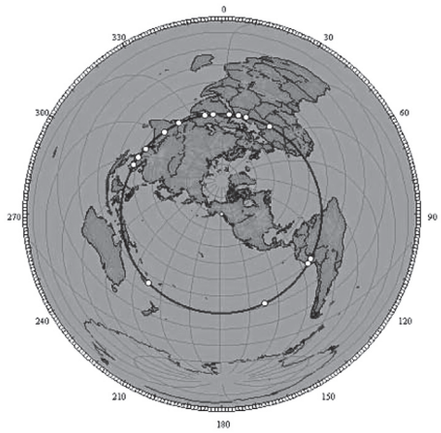

साभार: *https://coolinterestingstuff.com/mysterious-alignment-of-ancient-sites-of-the-world*

चित्र 5: दक्षिण अमेरिकी देश चिली के ईस्टर द्वीप स्थित कैलाश पर्वत की ओर उन्मुख विशाल प्रतिमाएँ

इन 17 स्मारकों का एक वृत्त में स्थित होना अत्यंत विलक्षण योजना लगती है जो मात्र संयोग नहीं कहा जा सकता है। ये 17 स्थान निम्न है: गीजा, सीवा, तससिली, एन अज्जेर, परातोरी, ओलेनटायटम्बो, माचूपिच्च, नाजका, ईस्टर द्वीप, एनीत्युम द्वीप,

चित्र 5

ऐन ऑडिएंस विद गॉड ऐट माउंट कैलाश : दविंदर भसीन, पार्ट्रिज पब्लिकेशन

प्रीह विहीर, सुखोथी, प्याय, खजुराहो, मोहनजोदड़ो, पर्सेपोलिस, उरग, पेटरा।

वर्तमान मन्वंतर में तिब्बत से सभ्यता प्रसार का पौराणिक विमर्श

पौराणिक विवरणों के अनुसार जल प्रलय के उपरांत, वर्तमान वैवस्वत मन्वंतर के प्रारंभ में, दोनों ध्रुव प्रदेशों में बर्फ जमने से जब धरती का जलस्तर नीचे उतरने लगा तब पृथ्वी पर सबसे उच्च स्थल पर होने से समुद्र से तिब्बत का सबसे पहले उभरना स्वाभाविक है। इसलिंए पुराणों एवं ऋग्वेद व अथर्ववेद में इस वर्तमान वैवस्वत मन्वंतर के प्रारंभ में मानव सभ्यता का उदय तिब्बत से होने के विवरण तर्कसंगत लगते हैं।

आधुनिक भूगोलवेत्ता भी 12 करोड़ वर्ष पूर्व, हिमालय के स्थान पर टैथिस सागर नामक समुद्र होने का वर्णन करते हैं। उसके उपरांत की चार भू अभिक्रांतियों के बाद हिमालय के उद्गम की बात कहते हैं। भारतीय पौराणिक गणनानुसार भी वर्तमान वैवस्वत मन्वंतर का प्रारंभ 11,99,73,121 (ग्यारह करोड, निन्यानबे लाख, तिहत्तर हजार, एक सौ इक्कीस) वर्ष व्यतीत हुए हैं। तिब्बत अर्थात त्रिविष्टप जो विश्व की 20 प्रतिशत जनसंख्या व 11 देशों के लिए हिमनदों का शुद्धतम जल सिंधु, सतलुज, ब्रह्मपुत्र व मेकांग जैसी 10 से अधिक बड़ी नदियों का स्रोत है। कैलाश पर्वत व मानसरोवर के अतिरिक्त 51 शक्ति पीठों में से एक 'मानस' नामक शाक्तिपीठ भी तिब्बत में ही है, जहाँ माता सती की दाहिनी हथेली का निपात हुआ था।[4]

महाभारत में पांडवों द्वारा अपने जीवन के अंतिम समय में कैलाश प्रस्थान के विवरणों की पुष्टि बद्रीनारायण से आगे कैलाश मानसरोवर मार्ग पर द्रौपदी के देहावसान स्थल पर स्थित प्राचीन द्रौपदी मंदिर से भी होती है। इस प्रकार महाभारत काल अर्थात 5000 वर्ष पूर्व भारत का तिब्बत से भू-सांस्कृतिक संबंध व उस पर हमारी प्रागैतिहासिक प्रभुसत्ता भी सिद्ध होती है। वस्तुतः बद्रीनाथ के आगे 'माना' गाँव में वेदव्यास जी व गणेश जी द्वारा महाभारत ग्रंथ के लेखन स्थान पर उनके निवास की गुफाओं व लेखन स्थल के थोडा आगे, सरस्वती नदी के उद्गम के बाद दूसरी ओर, कैलाश पर्वत के मार्ग पर द्रौपदी मंदिर अच्छा पुरातात्विक प्रमाण है।

महाभारत काल के उपरांत रचित गर्ग संहिता में कैलाश-मानसरोवर का उल्लेख, 2500 वर्षों से अक्षुण्ण अस्कोट राज्य के पाल वंश के राजाओं व कुमाऊं के राजाओं द्वारा कैलाश मानसरोवर मार्ग पर यात्रा व्यवस्था की परंपरा और कैलाश यात्रा हेतु समय-समय पर शुंग वंश सहित उत्तर भारत के विविध राजागण भी पारंपरिक रूप से करते रहे हैं

तिब्बतः चीन नहीं, भारत संरक्षित राज्य

महाभारत काल के उपरांत रचित गर्ग संहिता में कैलाश-मानसरोवर का उल्लेख[5], 2500 वर्षों से अक्षुण्ण अस्कोट राज्य के पाल वंश के राजाओं व कुमाऊं के राजाओं[6] द्वारा कैलाश मानसरोवर मार्ग पर यात्रा व्यवस्था की परंपरा और कैलाश यात्रा हेतु समय-समय पर शुंग वंश सहित उत्तर भारत के विविध राजागण भी पारंपरिक रूप से करते रहे हैं। ईसा पूर्व कालिदास-विरचित रघुवंश में कैलाश-मानसरोवर का वर्णन और विगत सदी में प्रकाशित अन्य कई ग्रंथों में कैलाश यात्रा हेतु राजकीय व्यवस्था के उल्लेख भी महत्वपूर्ण हैं। उसी परंपरा के चलते कैलाश-मानसरोवर मार्ग पर अंग्रेजों के काल में व उसके बाद उसी पूर्व परंपरानुसार, स्वाधीनता के बाद भी 1954 तक तिब्बत स्थित कैलाश पर्वत व कैलाश-मानसरोवर मार्ग भारत की प्रभुसत्ता एवं शासकीय व्यवस्था में रहा है। चीन के साथ 1954 में पंचशील का समझौता होने तक, भारत की प्रभुसत्ता व शासकीय नियंत्रण कैलाश पर्वत सहित संपूर्ण कैलाश-मानसरोवर मार्ग पर रहा है और उस मार्ग पर स्थित अतिथि गृहों, डाकघरों व तारघरों पर रहा है।

जवाहरलाल नेहरू की अदूरदर्शिता, हमारे आस्था केंद्रों के प्रति अश्रद्धा और उनके एकतरफा चीन प्रेम के परिणामस्वरूप उन्होंने देश के इस पारंपरिक अधिकार और वहाँ स्थित सम्पत्तियों, आधारिक रचनाओं, वहाँ की शासकीय व्यवस्थाओं का पारंपरिक अधिकार कैलाश-मानसरोवर व तिब्बत का चीन को एकतरफा समर्पण कर दिया। ऐसा करने तक अर्थात 1954 तक वह संपूर्ण क्षेत्र, कैलाश मानसरोवर व उसके सभी मार्ग सहस्राब्दियों से पूर्णतः भारत के नियंत्रण और रक्षा व्यवस्था में रहे

हैं। वस्तुत: 1954 के उस समझौते में संलग्न 'नोट्स एक्सचेंज्ड' वाले प्रलेखों में यह सब स्पष्ट रूप से उद्धृत है।[7] हमारे आस्था केंद्रों के प्रति अश्रद्धा का ही परिणाम था कि सरदार पटेल द्वारा सोमनाथ मंदिर के पुनर्निर्माण का एवं उसकी प्राण-प्रतिष्ठा व लोकार्पण हेतु राष्ट्रपति के सोमनाथ जाने का भी प्रधानमंत्री नेहरू ने विरोध किया था।[8] संभवत: उनकी ऐसी अश्रद्धा व आध्यात्मिक आस्था विरोधी दृष्टिकोणवश ही 1954 में उन्होंने भारत की ओर से कैलाश-मानसरोवर मार्ग स्थित अपने संरक्षित स्थलों पर अधिकार छोड़ दिया।

भारत व चीन के बीच स्थित उस अध्यात्म प्रधानव उभय-प्रतिरोधी राज्य अर्थात बफर राष्ट्र तिब्बत, जो तब एक स्वायत राज्य था, का भी विश्वासभंग करते हुए 1951 में चीन की अवैध सम्प्रभुता भी स्थापित करा दी थी। वस्तुत: सहस्राब्दियों से तिब्बत, कैलाश पर्वत, कैलाश मानसरोवर मार्ग और उस पर स्थित अति प्राचीन यात्रा अवसरंचनाएँ आदि भारत के संरक्षित क्षेत्र थे। तिब्बत में मंगोलिया अथवा चीन की ऐसी कोई स्थायी अवसरंचनाएँ या कार्यालय आदि कभी नहीं थे। हमारी वहाँ सुरक्षा चौकियों सहित पर्याप्त निर्मित भवन व कैलाश मानसरोवर पर भारत का 5000 वर्ष पहले से ही अधिकार रहा है।

चुशूल की संधि में तिब्बती संवत के साथ तिथि आसौज तृतीया (आश्विन मास की तृतीया) के लिखे होने से स्पष्ट है कि तिब्बती कलेंडर भी भारतीय कालगणना आधारित ही रहा है। ग्यारहवीं सदी में भारतीय चौल शासक 'चौलराज राजेंद्र' ने तो संपूर्ण श्रीलंका और बर्मा-मलेशिया सहित दक्षिण पूर्व एशिया को भी अपने राज्य में मिला लिया था

इतिहास में किंचित अवसरों पर चीनी शासकों ने तिब्बत पर अधिकार किया होगा। लेकिन, 1912 से 1951 तक तिब्बत स्वतंत्र राज्य रहा है।[9] उसके बाद मई 1841 से अगस्त 1842 के बीच तो जम्मू के डोगरा शासक गुलाब सिंह की सेनाओं ने भी मानसरोवर तक आगे बढ़ कर तिब्बती सेना को हराया था। तपदुपरांत सितंबर 16/17, 1842 में हुई 'चुशूल की संधि' के बाद यह युद्ध समाप्त हुआ था। इस प्रकार चीन की तरह भारत की सेनाएं भी तिब्बत मे प्रवेश करती रही हैं। चुशूल की संधि में तिब्बती संवत के साथ तिथि आसौज तृतीया (आश्विन मास की तृतीया) के लिखे होने से स्पष्ट है कि तिब्बती कलेंडर भी भारतीय कालगणना आधारित ही रहा है।

ग्यारहवीं सदी में भारतीय चौल शासक 'चौलराज राजेंद्र' ने तो संपूर्ण श्रीलंका और बर्मा-मलेशिया सहित दक्षिण पूर्व एशिया को भी अपने राज्य में मिला लिया था।[10]

उसके आधार पर वे क्षेत्र आज हम अपने नियंत्रण में लेने की नहीं सोच सकते हैं तो फिर तिब्बत को चीन का आंतरिक मामला कह देने का जवाहरलाल जी का क्या औचित्य था। तिब्बत 1912 से 1951 तक एक स्वतंत्र देश रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ में 24 नवंबर को तिब्बत पर चीन के आक्रमण के विरुद्ध होने वाली चर्चा रुकवा देना[11] व उसके फलस्वरूप 1951 में तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता थोपने वाली एकतरफा संधि करा देना प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का एक अलोकतांत्रिक व अन्यायपूर्ण कदम ही कहा जाएगा।

कनिष्क के काल में मध्य एशियाई गणराज्य भी भारत के अधीन थे। आज उन्हें भारत अपने नियंत्रण में नहीं ले सकता। इसी प्रकार चीन का भी तिब्बत पर अधिकार का कोई औचित्य नहीं था।

संदर्भ संकेत

1 *https://www.worldatlas.com/articles/which-country-is-known-as-the-roof-of-the-world.html*
2 ऋग्वेद *8/91/5*
3 अथर्ववेद *11/1/7*
4 *https://m.bharatdiscovery.org/india/%E0%A4%AE%E0%A4%BE%E0%A4%A8%E0%A4%B8_%E0%A4%B6%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%A4%E0%A4%BF%E0%A4%AA%E0%A5%80%E0%A4%A0*
5 *https://hi.krishnakosh.org/%E0%A4%95%E0%A5%83%E0%A4%B7%E0%A5%8D%E0%A4%A3/%E0%A4%97%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%97_%E0%A4%B8%E0%A4%82%E0%A4%B9%E0%A4%BF%E0%A4%A4%E0%A4%BE_%E0%A4%AA%E0%A5%83._434*
6 *https://hindi.news18.com/news/knowledge/kailash-mansarovar-a-mysterious-sound-heard-here-1505360.html*
7 प्रोफेसर भगवती प्रकाश, चीन एक आर्थिक व भूराजनैतिक चुनौती,।
8 *https://postcardhindi.news/%E0%A4%9C%E0%A4%AC-%E0%A4%A8%E0%A5%87%E0%A4%B9%E0%A4%B0%E0%A5%82-E0%A4%A8%E0%A5%87-%E0%A4%B8%E0%A5%8B%E0%A4%AE%E0%A4%A8%E0%A4%BE%E0%A4%A5-%E0%A4%AE% E0%A4%82%E0%A4%A6%E0%A4%BF%E0%A4%B0-%E0%A4%95/*
9 *https://www.bbc.com/news/world-asia-pacific-17046222*
10 *https://e-utkarsh.blogspot.com/2018/04/chol-samrajya-chol-sashak-rajendra-pratham-chol-prashasan.html?m=1*
11 *http://www.indiandefencereview.com/news/tibet-the-international-betrayal/0/*

सूर्यकांत बाली

त्रिविष्टप शब्द का अर्थ है स्वर्ग

त्रिविष्टप, जिसे अब तिब्बत के नाम से जाना जाता है, हमारे लिए कभी पराया नहीं रहा है। भारत के कालजयी ग्रंथों में इसका उल्लेख कई प्रसंगों में हुआ है तथा भारत और तिब्बत दोनों ही का एक-दूसरे के प्रति अपनत्व का भाव रहा है। यह बात कई कथाओं और आख्यानों से भी स्पष्ट है कि ये दोनों एक ही सांस्कृतिक इकाई के अभिन्न अंग हैं

क्या तिब्बत भी कभी अखंड भारत का हिस्सा रहा है? उसका इदमित्थं कोई जवाब देना आसान नहीं, पर कुछ बिंदुओं पर विचार-विमर्श कर ही सकते हैं।

तिब्बत का पुराना नाम, कहना चाहिए कि भारत के संपूर्ण साहित्य में तिब्बत का नाम त्रिविष्टप है और यह 'त्रिविष्टप' शब्द 'स्वर्ग' के अर्थ में ही भारत की साहित्य परंपरा में प्रयुक्त हुआ है। वामन शिवराम आपटे के विश्व मान्याताप्राप्त कोश, 'संस्कृत हिंदी कोश' में त्रिविष्टप और त्रिपिष्टप इन दोनों शब्दों का अर्थ दिया है, इंद्रलोक और स्वर्ग, और हम सभी को ठीक से पता है कि दोनों शब्द पर्यायवाची और एक ही अर्थ का संप्रेषण करते हैं। आपटे ने मानो अपने कथन की पुष्टि में ही कालिदास के सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ 'रघुवंश महाकाव्यम्' से उद्धृत (रघुं. 6/78) किया है 'त्रिविष्टपस्येव पति जयन्तः' और इसका अर्थ करते हुए आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रंथ 'कालिदास ग्रंथावली' में लिखा है-'जैसे इंद्र (त्रिविष्टपस्य पतिं), इंद्र के पुत्र जयंत बड़े प्रतापी हुए, वैसे ही कुमार अज भी उन्हीं प्रतापी रघु के पुत्र हैं। पर इस शब्दार्थ को, त्रिविष्टप शब्द का अर्थ स्वर्ग है, इसको सही साबित करनेवाला सबसे बड़ा, शायद भारत के संपूर्ण साहित्य का सबसे बड़ा प्रमाण तो भगवान वेदव्यास ने अपने विश्वविख्यात और अक्षयकीर्ति वाले प्रबंध काव्य 'महाभारत' (स्वर्गारोहण पर्व, प्रथम अध्याय, श्लोक 1, 3 और 4) में दिया है, जहाँ तब की घटनाओं का वर्णन है, जब महाराज युधिष्ठिर स्वर्ग पहुँच गए-'स्वर्ग त्रिविष्टपं प्राप्य' (अर्थात् इस त्रिविष्टप स्वर्ग में पहुँचकर) और उन्होंने सबसे वार्तालाप किया। महारानी द्रौपदी का, पाँचों पांडवों का (और उनके साथ-साथ चल रहे कुत्ते का) जैसा वर्णन इस प्रशंसा में मिलता है, उससे यही समझ में आ रहा है कि सारा हिमालय पार कर महाराज युधिष्ठिर उसके भी उत्तरी भाग स्वर्ग में पहुँच गए, जिसे वे बार-बार 'त्रिविष्टप' कह रहे हैं। यह वही स्थान है, जहाँ आज लद्दाख और इसके साथ सटा तिब्बत है। त्रिविष्टप तो स्पष्ट तिब्बत समझ में आ रहा है। लद्दाख का पौराणिक नाम क्या है, इसे भी जल्दी ही प्राप्त कर लिया जाएगा। हो सकता है कि लद्दाख और तिब्बत के लिए कोई एक ही शब्द मिलता हो। खोजना पड़ेगा।

कैलाश और मानसरोवर

तिब्बत के त्रिविष्टप नाम और त्रिविष्टप रूप को हम एक बार को शुद्ध अकादमिक महत्व का मान सकते हैं, हालांकि कभी-कभी शुद्ध अकादमिक रूपरेखा वाले उद्धरणों में से भी निर्णायक बातें मिल जाती हैं। पर कैलाश? फिर से कह दें कि एक बार को हम त्रिविष्टप शब्द को अकादमिक बातचीत के दायरे में सिमटा सकते हैं, (वैसे हम सिमटाने वाले नहीं हैं)। पर कैलाश और मानसरोवर का महत्व हमारे जीवन में सिर्फ अकादमिक उद्धरण के लिए नहीं है। सिर्फ तो क्या, इस तरह के अकादमिक रेफरेंस का है ही नहीं। शिव तो कैलाशवासी हैं, जहाँ शिव निरंतर तपोलीन रहते हैं, आदियोगी और महायोगी के रूप में नित्य कैलाशवास करते हैं, जहाँ से बरात चढ़ाकर वे हिमालय पुत्री पार्वती को व्याहने गए थे। उसी कैलाश में मानस सरोवर है, जिसे हम (भाषाशास्त्र के नियम के अनुसार) दो बार 'स' बोलने के कष्ट से बचने के लिए मानससरोवर को मानसरोवर बोलते हैं, जिस सरोवर में शिव और पार्वती नित्य विहार करते हैं। ऐसे स्थान

को, जगत् पिता शिव और जगन्माता पार्वती के आवास और विहार स्थली को हम भला विदेश कैसे मान लें? जैसे सरस्वती नदी का प्रदेश ब्रह्मा का सारस्वत प्रदेश है, जैसे भारत का प्राग्ज्योतिष, पूर्वोत्तर, ईशानकोण, शक्ति का आवास और विहार स्थल है, जैसे भारत महासागर भगवान् विष्णु का नित्य वैकुंठ, यानी वेंकट है, वैसे ही कैलाश-मानसरोवर के साथ शिव-पार्वती के नाम भारत के जन-जन से, जन-जन के मस्तिष्क और हृदय से अविभक्त रूप से, अविनाभाव से, शरीर और उसके श्वास की तरह अखंड रूप से जुड़े हैं। ऐसे कैलाश-मानसरोवर के बिना अखंड भारत की कल्पना करना ही बेमानी है, व्यर्थ है और खुद को धोखा देने के जैसा है। राजनीतिक दृष्टि से यह हमारे लिए आश्चर्य की बात है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी देश की किसी भी सरकार

जैसे सरस्वती नदी का प्रदेश ब्रह्मा का सारस्वत प्रदेश है, जैसे भारत का प्राग्ज्योतिष, पूर्वोत्तर, ईशानकोण, शक्ति का आवास और विहार स्थल है, जैसे भारत महासागर भगवान् विष्णु का नित्य वैकुंठ, यानी वेंकट है, वैसे ही कैलाश-मानसरोवर के साथ शिव-पार्वती के नाम भारत के जन-जन से, जन-जन के मस्तिष्क और हृदय से अविभक्त रूप से, अविनाभाव से, शरीर और उसके श्वास की तरह अखंड रूप से जुड़े हैं

ने ऐसे भारत को साकार करने की सोची तक नहीं कि जिसमें कैलाश-मानसरोवर हमारे देश के लिए विदेश नहीं, भारत के अविभाज्य हिस्सा जैसा है, शिव-पार्वती के आवास व विहार स्थलों की यात्रा करने के लिए परमिट न बनवाना पड़े अपितु बस/ट्रेन विमान में बैठकर व टिकट कटवाकर निर्द्वंद्व पहुँचने जैसा हो। देवभूमि उत्तराखंड तो भारत में है। पर देवों का आवास त्रिविष्टप और देवों के देव महादेव और माँ पार्वती का आवास कैलाश और विहारभूमि मानसरोवर जाने के लिए विदेशी परमिट बनवाना पड़े, यह कैसे भारत में रह रहे हैं हम? भविष्य में बनने वाले अखंड भारत में रहने की हमारी आकांक्षा, हमारा स्वभाव कब और कैसे बनेंगे?

साभार: *भारत की राजनीति का उत्तरायण*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

त्रिविष्टपेश्वर महादेव

त्रिविष्टपेश्वरं देवि सप्तमं पर्वतात्मजे।
यस्य दर्शन मात्रेण लभ्यते तत्त्रिविष्टपम्॥

चौरासी महादेव में से एक त्रिविष्टपेश्वर महादेव की स्थापना स्वयं देवताओं ने की है जो महाकाल वन की सुंदरता और महत्ता दर्शाती है। पौराणिक कथाओं के अनुसार एक बार देवऋषि नारद स्वर्गलोक में इंद्र देव के दर्शन करने गए। वहां इंद्र देव ने महामुनि नारद से महाकाल वन का माहात्म्य पूछा। तब नारद मुनि ने कहा महाकाल वन सब तीर्थों में उत्तम तीर्थ है। वहां साक्षात महेश्वर अपने गणों सहित निवास करते हैं। वहां साठ करोड़ हजार तथा साठ करोड़शत लिंग निवास करते हैं जो भक्ति और मुक्ति प्रदान करने वाले हैं। साथ ही वहां नव करोड़ों शक्तियां भी निवास करती हैं।

यह सुनकर इंद्र तथा अन्य देवता महाकाल वन पहुंचते हैं। वहां पहुंच कर देवता महाकाल वन को ब्रह्म लोक तथा विष्णुलोक से भी अधिक श्रेष्ठ पाते हैं। तब वहां आकाशवाणी हुई कि आप सभी देवता मिल कर एक लिंग की स्थापना कर्कोटक से पूरब में और महामाया के दक्षिण में करें। यह सुनकर देवताओं तथा इंद्र ने अपने नाम से त्रिविष्टपेश्वर महादेव की स्थापना की एवं उनका विधि वत पूजन अर्चन किया।

दर्शन लाभ

त्रिविष्टपेश्वर महादेव महाकाल मंदिर में स्थित ओंकारेश्वर मंदिर के पीछे स्थित है। बारह मास महाकाल दर्शन को आने वाले श्रद्धालु यहां दर्शन कर मनोकामना की पूर्ति हेतु प्रार्थना करते हैं लेकिन अष्टमी, चतुर्दशी तथा संक्रांति के दिन पूजन अर्चन करने से विशेष फल प्राप्त होता है। ■

https://hindi.webdunia.com/84-mahadev-ujjain/trivishtapeshwar-mahadev-1160203000053_1.html

आर.टी. मोहन

तिब्बत : पूर्व मध्य युग में

ऐतिहासिक परिवर्तनों की दृष्टि से पूर्व मध्यकाल पूरे भारतीय प्रायद्वीप के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। काल के इस कुचक्र से तिब्बत भी बच नहीं पाया

पूर्व मध्यकाल तिब्बत, तिब्बती इतिहास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कालखण्ड है। आठवीं शताब्दी के अंतिम दशकों तक आते आते राजनीतिक एकीकरण, बौद्धधर्म अपनाने ओर तिब्बती सभ्याता के विकास के कारण यह बौद्ध साम्राज्य अपने चरम पर पहुँच गया था। यह एशिया का परमशक्तिशाली साम्राज्य बन गया था जिससे सभी पड़ोसी देशों को खतरा बना रहता था। तिब्बत और उसने निकटवर्ती राज्यों की ताकत घटती-बढ़ती रही, परंतु इसका क्रम समान नहीं रहा। भाग्य चक्र परस्पर विरोधियों को मनमर्जी से प्रभावित करता था। इसलिए जिस कालखंड का पुनरावलोकन किया जा रहा है उसमें किसी एक प्रभुत्वशाली राज्य-सत्ता का रेखीय इतिहास वर्णित नहीं किया जा रहा।

छठी और सातवीं शताब्दियाँ

तिब्बत के प्राचीन ऐतिहासिक वृत्तांतों के अनुसार तिब्बत के शाही वंश के संस्थापक वस्तुत: भारतीय थे। वे कोशल के शासक के पांचवें पुत्र थे। यद्यपि छठी शताब्दी तक तिब्बत का कोई निश्चित इतिहास उपलब्ध नहीं है।[1] छठी शताब्दी के अंतिम दो दशकों में एक स्थानीय सरदार नाम री-सरों-बत्सन (Gnam-ri-sro-btsan) ने अन्य सरदारों पर विजय पाई और एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उसका प्रसिद्ध पुत्र सरों-बत्सन-साम-पो उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके साथ ही भारत से आए बौद्ध धर्म का प्रभाव तिब्बत में प्रारंभ हुआ जिससे तिब्बत की संपूर्ण संस्कृति का कायाकल्प होने वाला था। यह भी कहा जाता है कि उसके निर्देशानुसार ही संस्कृत अक्षरों को तिब्बती भाषा की ध्वनियों के अनुरूप ढालकर अपनाया गया। उसने भारतीय कश्मीरी गुरूओं को अपने दरबार में आमंत्रित किया। कहा जाता है कि इस शासक द्वारा कम से कम 900 मठों का निर्माण करवाया गया।[2]

कश्मीर

करकोटा वंश के संस्थापक, दुर्लभवर्धन (626-662) के अधीन कश्मीर की साम्राज्यवादी इच्छाएं आकार लेने लगी थीं। उसने हर्षवर्धन को बुद्ध का बहुमूल्य दंत-अवशेष देकर उसकी मैत्री अर्जित की और इस अवशेष को कन्नौज के बौद्ध मंदिर में रखा गया। उसके राज्यकाल में ह्वेन-सांग चीनी यात्री (631-33) कश्मीर आया था। उस भिक्षुक के विवरणों से हमें कश्मीर के अधीन पांच पड़ोसी राज्यों का पता चलता हे। ये थे- तक्षशिला, सिंहपुरा (नमक पर्वतशृंखला), उरूशा (हजारा ओर एबटाबाद), पुंछ और राजौरी।[3]

कन्नौज

विंध्य के उत्तर आर्यावर्त क्षेत्र में पुष्यभूति वंश के शासक हर्षवर्धन (606-648), जिनकी राजधानी कन्नौज थी, आर्यवर्त के सर्वोच्च शासक थे। वह अत्यरधिक धार्मिक प्रवृत्ति के थे। चीनी यात्री ह्वेन-सांग 629 से 645 के बीच उसके राज्य में आया था। अब भारत की देखरेख में, तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए स्थितियां अत्यधिक अनुकूल थीं।

लगभग चार दशक के गौरवशाली शासन के पश्चात् 648 ई. में हर्षवर्धन की मृत्यु हो गई। उसके कठोर बाहुपाश से मुक्त होते ही अराजकता की दमित शक्तियाँ जाग उठीं और सिंहासन पर भी उसके ही एक मंत्री

अरूणाश्व अथवा अर्जुन ने अधिकार जमा लिया। उसने, हर्ष की मृत्यु से पूर्व चीन द्वारा भेजे गए एक शिष्टमंडल की क्रूरता पूर्वक हत्या कर दी और उसके साथ आए छोटे से रक्षक दल को भी मार डाला। परंतु उस दल का नेता वांग-ह्वेन-से सौभाग्य से बच निकला। शक्तिशाली तिब्बती शासक सरों-वत्सन-साम-पो और एक नेपाली सैनिक टुकडी के साथ उसने इस हत्याकांड का बदला लिया। अरूणाश्व को बंदी बना लिया गया ताकि उसे पराजित शत्रु के रूप में चीन के शासक के दरबार में प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रकार राज्य हड़पने वाले की सत्ता समाप्त हो गई और इसके साथ ही हर्ष की सत्ता के अंतिम अवशेष भी मिट गए। इसके पश्चात तो साम्राज्य के कंकाल से मांस नोचने के लिए आपाधापी मच गई।[4]

तिब्बत

वांग-ह्वनन्से के साथ घटी घटना से तिब्बती शासक स्रों-वत्सम-साम-पो की रुचि भारतीय राजनीति में हुई। कहा जाता है कि उसने नेपाल और असम को जीत लिया और भारत के कुछ अन्य भागों पर भी आधिपत्य जमाया। उसने असम के राजा अमसू वर्मन से उसकी बेटी का हाथ विवाह के लिए मांगा और वह इनकार न कर सका। कुछ समय पश्चात् उसने चीन पर आक्रमण किया और सेचुआन तक चला गया। उसने चीन के राजा की बेटी से भी विवाह की इच्छा प्रकट की और चीन का शासक अपनी बेटी का इस बर्बर राजा से ब्याहने को विवश हुआ। ये दोनों पत्नियां बौद्ध थी।

तिब्बत इन दो शादियों के कारण चीनी और भारतीय संस्कृ तियों से प्रभावित हुआ और इस प्रकार इन दो शादियों से अत्यधिक लाभान्वित हुआ। स्रों-वत्सम-साम-पो ने तिब्बत को सशक्त धार्मिक स्पंदन दिया जबकि बौद्ध धर्म तो शांति का धर्म था। और वह स्वयं स्वभाव से योद्धा था। धीरे-धीरे तिब्बत ने साम्राज्य का रूप ले लिया और उसका प्रभाव सभी दिशाओं में देखा जा सकता था।

650 ई0 में स्रों-वत्सम-साम-पो का देहांत हो गया। आगे की आधी शताब्दी में हमें भारत से आए बौद्ध धर्म और भारत-तिब्बत संबंधों का अधिक पता नहीं चलता।[5]

आठवीं और नवीं शताब्दियां

715 के पश्चात तीन बड़ी विस्तारवादी शक्तियां मध्य एशिया पर आधिपत्य जमाने के लिए आगे बढ़ रही थीं। पूर्व से चीन; दक्षिण से तिब्बत और पश्चिम से अरब। उनके हितों में बहुआयामी टकराव था और भारत भी इससे चिन्तित था। सिन्ध विजय और अरबों द्वारा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों पर आक्रमणों तथा पूर्वी भारत के क्षेत्रों में तिब्बती घुसपैठ ने उत्तर भारत के शासकों को दुहरे खतरे के प्रति सतर्क कर दिया था। इस कालखण्ड में परस्पर विरोधी शक्तियों के इतिहास का हम पुनरावलोकन करेंगे।

अफगानिस्तान और सिंध

650 ई. तक अरबों ने बड़ी आसानी और तीव्र गति से भारत की पश्चिमी सीमा तक सीरिया, इराक, मिस्र और ईरान पर आधिपत्य जमा लिया था। इसके पश्चात मुस्लिम सेनाएँ जो अपरोजय रही थीं और जिन्होंने अभी तक पराजय का स्वाद नहीं चखा था, यहां आकर रुक गई। उन्होंने भारत पर आक्रमण नहीं किया। परंतु अरब भारत के मकरान, अफगानिस्तान और सिंध (सभी हिंदू राज्यो) के भीतरी इलाकों तक, प्रारंभ में मुख्यत: गुलाम ले जाने के लिए हमले कर रहे थे। आधी शताब्दी के पश्चात, 698 में एक बड़ी सेना जाबुलिस्तान पर अधिकार जमाने के लिए भेजी गई जो कि दक्षिण-पश्चिमी अफगानिस्तान में था परंतु वहां के क्षत्रिय राजा रणबल ने उसे पराजित कर दिया। अफगानिस्तान में अपनी लज्जाजनक पराजय से कुंठित होकर अरबों ने सिंध पर सुसंगठित ढंग से आक्रमण करते प्रारंभ किए। अंतत: 712 में अरबों ने सिंध पर अधिकार कर लिया जिससे उत्तरी भारत के हिंदू राज्यों को गंभीर खतरा पैदा हो गया।[6]

कन्नौज

राज्य हड़पने वाले अरुणाश्व के पतन के बाद जिस शासक के विषय में हमें निश्चित जानकारी मिलती है, वह है यशोवर्मन जो कि 725 से 752 तक यहां शासक था। उसे कई विजय अभियानों का श्रेय दिया जाता है जिनमें मगध और गौड़ (बंगाल) भी आते हैं। उसने 731 में चीनी दरबार में अपने मंत्री बुद्धसेन को भेजा था और अपने समकालीन कश्मीर के शासक ललितादित्य। से भी मैत्री की थी ताकि अरब और तिब्बत से होने वाले आक्रमणों को रोका जा सके। चचनामा के अनुसार, सिंध पर अधिकार जमाने के पश्चात अरबों ने एक अभियान

राजा स्रों-वत्सम-साम-पो अपनी पत्नियों नेपाल की राजकुमारी भृकुटि (बाएं) और चीन की राजकुमारी वेनचेंग (दाएं) के साथ
साभार: https://www.britannica.com/biography/Srong-brtsan-sgam-po

दल कन्नौज विजय के लिए भेजा था जिसे पराजित कर दिया गया।

कश्मीर

करकोटा वंश के प्रारंभिक शासकों में से एक चंद्रपीड़ जो संभवत: 712-721 ई> में कश्मीर का शासक था और उसी के समय अरब सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने, मुल्तान से कश्मीर की सीमा तक तेजी से चढ़ाई की थी। 713 में चंद्रपीड़ ने अरबों के विरूद्ध सहायता के लिए चीन के सम्राट के यहां एक राजदूत भेजा था। इस वंशावली में सर्वाधिक शक्तिशाली ललितादित्य (724 से 760 ई.) था।

वह विजय के लिए उतावला रहता था और उसने अपना अधिक समय सैन्य-अभियानों में गुजारा। इस समय के तिब्बतियों ने भी शक्तिशाली शासन स्थापित कर लिया था जो देश से बाहर आक्रमण करने में समर्थ था।[7] 702 के आसपास नेपाल और भारत के सीमावर्ती क्षेत्रों ने तिब्बती पराधीनता को उतार फेंका और भारत पर बार-बार चढ़ाई करने वाला तिब्बती राजा 704 में मारा गया।[8] निरंतर होने वाले तिब्बती आक्रमणों से परेशान होकर यशोवर्मन की तरह ललितादित्य ने भी एक प्रतिनिधिमंडल चीन दरबार में भेजा, संभवत: यशोवर्मन को अपना साथी भी कहा। उसने दावा किया कि तिब्बत को जाने वाले पांच बड़े मार्गों को उसने बंद कर दिया था। बिना किसी बाहरी सहायता के ललितादित्य भौटों (तिब्बती) और उत्तर तथा उत्तर-पश्चिमी पहाड़ी सीमावर्ती इलाकों के कबीलों को पराजित करने में सफल हुआ जिनमें दरद, कन्नौज और तुर्क शामिल थे।[9] यह ध्यान देने योग्य है कि इन दोनों शासकों ने भारत पर चढ़ाई करने वाले अरबों और तिब्बतियों के विरुद्ध चीनी शासकों से सहायता मांगी थी।

परंतु, ललितादित्य और यशोवर्मन में झगड़ा हो गया और यशोवर्मन बुरी तरह पराजित हुआ। आपसी शत्रुता का मुख्य कारण दोनों की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएं थीं। ललितादित्य दिग्विजय अथवा विश्व-विजय के लिए निकल पड़ा जिसका विस्तार से वर्णन कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' में किया है। संभवत: उसने ऐसा वहां बढ रहे तिब्बती प्रभाव को रोकने के लिए किया। कहा जाता है कि वह उसके पश्चात भारत के पूर्वी और पश्चिमी तटीय इलाकों की ओर बढ़ गया। 747 में तिब्बती शासक खरि-इदेग्सुग-वत्सन के कश्मीर पर आक्रमण के कारण उसे पुन: हिमालय की ओर लौटना पड़ा। उसने सफलतापूर्वक तिब्बतियों को खदेड़ दिया और तरसेम केहथाले-से ऊपरी आक्सस तक जा पहुँचा। अंतत: 756-757 में सिक्यांग में ललितादित्य की सेना नष्ट हो गई और राजा ने धार्मिक विधि से आत्मदाह कर लिया। उसकी मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात कश्मीर साम्राज्य का प्रशासनिक ढांचा बिखर गया।[10]

चीनियों के लिए भी तिब्बती परेशान करने वाले पड़ोसी थे। मध्य-एशिया में आगे बढ़ते हुए 670 ई0 तक उन्होंने चीन को पश्चिमी तुर्किस्तान और (ईरान) फारस से काट दिया था। 692 में चीनियों ने कारागर में तिब्बतियों को पराजित कर यह क्षेत्र पुन: जीत लिया। अब तिब्बती शासक ने, चीन के शत्रु अरबों और पूर्वी तुर्कों से मैत्री कर ली। ऐसा प्रतीत होता है कि चीनी, तिब्बत की ओर से आने वाले खतरे से अत्यधिक चिंतित थे इसलिए उन्होंने भारतीयों की सहानुभूति पाने का दिल से प्रयास किया।

ललितादित्य द्वारा दो लाख की सहायक चीनी सेना कश्मीर में रखने का प्रस्ताव तो चीन ने नहीं माना परंतु यह स्पष्ट है कि तांग वंशीय चीनी चाहते थे कि भारत उनके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर मुस्लिमों के विरुद्ध तथा मध्य एशिया में अधिकार जमा रहे तिब्बतियों के विरुद्ध उसका साथ दे। एक तीखा कथन है कि, यह विरोधाभासी, है कि चांग वंश की अधीनता स्वीकार करके और उनसे प्राप्त संस्थानों से ललितादित्य भारत का सर्वोच्च शासक बन गया।[11]

ऐसा प्रतीत होता है कि चीनी, तिब्बत की ओर से आने वाले खतरे से अत्यधिक चिंतित थे इसलिए उन्होंने भारतीयों की सहानुभूति पाने का दिल से प्रयास किया। ललितादित्य द्वारा दो लाख की सहायक चीनी सेना कश्मीर में रखने का प्रस्ताव तो चीन ने नहीं माना परंतु यह स्पष्ट है कि तांग वंशीय चीनी चाहते थे कि भारत उनके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर मुस्लिमों के विरुद्ध तथा मध्य एशिया में अधिकार जमा रहे तिब्बतियों के विरुद्ध उसका साथ दे

तिब्बत और भारत

तिब्बती ऐतिहासिक वृत्तांतों के अनुसार 750 से 850 के बीच तिब्बतियों का राजनीतिक प्रभुत्व भारत के कुछ भू-भागों पर रहा। तिब्बती शासक खरि-सरों-ल्दे-बत्सन, जिसका शासनकाल 755 से 797 का है उसने सीमावर्ती प्रांतों को अपने अधीन किया था जिनमें "पूर्व में चीनी और दक्षिण में भारतीय क्षेत्र भी थे।" उसके पुत्र भू-खरि-वत्सन-पो (798-804) ने जम्बूद्वीप के दो या तीन भागों पर अधिकार जमाया था तथा पालवंशीय राजा धर्मपाल तथा एक अन्या राजा को उपहार भेजने को विवश किया था। इसके पश्चात एक अन्य महत्वपूर्ण शासक राल-पो-केन (817-836) ने गंगासागर तक विजय पाई थी जिसका अर्थ है कि गंगा के मुहाने तक गया था। चीनी स्रोतों में भी तिब्ब्तयों को महान सैन्य शक्ति और आक्रामक सैन्य अभियानों का भारत और चीन विरुद्ध उल्लेख मिलता है। यह कहना कठिन है कि तिब्बतियों के प्रभुत्व और विजयों के दावे भारत के संदर्भ में कितने ऐतिहासिक रूप से मान्य है। भारतीय स्रोतों में तिब्बतियों के भारत में किसी भी सैनिक अभियान अथवा भारत के किसी क्षेत्र पर अधिपत्य का उल्लेख नहीं मिलता।[12]

तिब्बत और बौद्ध धर्म

यह जानना रोचक है कि जिस कालखंड (750-850) में तिब्बत द्वारा भारत के कुछ क्षेत्रों पर प्रभुत्व की बात की जाती है। उसी समय भारतीय बौद्ध धर्म तिब्बती वॉन धर्म जो कि शमनवाद (आत्माओं के मिलन) संबंधी प्राचीन तिब्बती पूजा पद्धति है, पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त किया। ऊपर वर्णित शासक खरि-सरों-ल्दे-बत्सन, बौद्ध धर्म का महान संरक्षक था। उसने नालंदा

विश्वविद्यालय के मुख्य मठाधीश शांतरक्षित को अपने यहां आमंत्रित किया और उसे तिब्बत का मुख्य पुरोहित नियुक्त किया। उसने बॉन के स्थान पर बुद्धमत को तिब्बत का राजधर्म बना दिया।

शांतरक्षिता ने बौद्ध राजतंत्र की प्रणाली स्थापित की जिसे तिब्बती लामावाद कहा जाता है। इस समय अनेक भारतीय विद्वान जिन्होंने बौद्ध धर्म के विविध पक्षों का अध्यापन किया, उनके नाम आज भी वहां संरक्षित हैं। तिब्बतियों में रूढिवादी लोगों का एक वर्ग पहले-पहल इस नए धर्म का विरोधी था परंतु धीरे-धीरे विरोध समाप्त हो गया। खरि-सरों-ल्द-वत्सन के राज्यकाल में बौद्ध धर्म ने तिब्बत में अंतिम विजय प्राप्त की।[13]

तिब्बत और चीन

आठवीं और नवीं शताब्दियों में तिब्बतियों का प्रभुत्व उस बड़े क्षेत्र पर रहा जिसे सिक्यांग के नाम से जाना जाता है। कभी अकेले जूझते हुए और कभी अरबों के साथ मिलकर जो तब नए-नए मिले इस्लाम धर्म के साथ आगे बढ़ रहे थे, तिब्बतियों ने चीनी सत्ता को ठीक उस समय तोड़ दिया जबकि, वह पश्चिम में अपने सबसे बड़े विस्तार में बुखारा, ताशकंद, अफगानिस्तान तथा ईरान और भारत के सीमावर्ती क्षेत्रों तक पहुँच गए थे। उन्होंने चीन के शासक को उपहार स्वरूप पचास हजार रेशम के थान भेजने को विवश किया।

तिब्बती राजा की मृत्यु पर, चीन शासकों ने यह भेंट देना अनुचित माना। तिब्बतियों ने चीनी सम्राट को भागने के लिए विवश किया, और चीन की राजधानी को जीता तथा लूटा (783)।[14] रस-पा-केन के समय में चीन और तिब्बत में विवाद बढ़ा। एक भयंकर महान तिब्बती सेना ने चीन पर आक्रमण किया जिसके परिणाम चीनियों के लिए भयंकर रहे। 821 में चीन और तिब्बत की सीमाएं चिन्हित करने वाली एक संधि पर हस्ताक्षर हुए। इसमें यह भी कहा गया कि, "पवित्र संधि से एक ऐसे युग का सूत्रपात हुआ कि तिब्बती अपने क्षेत्र में और चीनी अपने क्षेत्र में सुखपूर्वक रहेंगे। तिब्बत और चीन के ऐतिहासिक संबंध सैन्य बल और शक्ति पर आधारित रहे। तिब्बत और भारत के संबंध अधिकतर सांस्कृतिक और धार्मिक सांझे जीवन मूल्यों पर आधारित थे।[15]

समी में ट्रिसॉन्ग डेट्सन की मूर्ति। फोटो : एरिक टॉर्नर
साभार: https://en.wikipedia.org/wiki/Trisong_Detsen#/media/File:Trisong_Detsen.jpg

राजनीतिक और धार्मिक उठापटक

836 में राजा रालपकेन की हत्या कर दी गई और लांग दरमा को गद्दी पर बिठाया गया जो कि बॉन धर्म का अनुयायी और बौद्ध धर्म का विरोधी था। बौद्ध धर्म के प्रथम प्रवेश को कठोर उत्पीड़न से समाप्त किया गया फिर भी अनेक लोगों में बौद्ध प्रभाव गुप्त रूप से बना रहा। तत्पश्चात् 842 में एक बौद्ध ने लांग दरमा की हत्या कर दी और तब यारलांग वंश का पतन प्रारंभ हुआ जिसके परिणामस्वरूप धर्म का विकेंद्रीकरण हुआ और 400 वर्ष तक चलने वाला सत्ता संघर्ष प्रारंभ हुआ।

राजसत्ता का विखंडन

नवीं और दसवीं शताब्दी का कालखंड तिब्बत की केंद्रीय सत्ता के विखंडन और उसकी शक्ति के क्षय का है। अनेक विद्रोह हुए और अनेक योद्धा सरदार सामने आए। राजा लांग दरमा की हत्या के पश्चात् (900 ई.) उत्तराधिकार की लड़ाइयाँ हुई और गृह्-युद्ध प्रारंभ हो गया। 910 में राजाओं की कब्रों को भ्रष्ट किया गया। साम्राज्य की क्षेत्रीय विविधता, यातायात के साधनों की कठिनाई और साम्राज्य विस्तार के कारण नवीन विचारों के आगमन से विद्रोहों और सत्ता-गुटों का उदय हुआ। परंपरागत विवरणों के अनुसार दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म का पुनः अभ्युदय हुआ और बौद्ध धर्म राष्ट्रीय धर्म बन गया। बौद्ध धर्म के द्वितीय उत्थान से तिब्बत में सांस्कृतिक नवजागरण हुआ।[16]

ज्यों-ज्यों शांति और अहिंसा का प्रचार करने वाले बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ, उसने तिब्बातियों की हिंसक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा दिया। बौद्ध धर्म की दयालुतापूर्ण शिक्षाओं ने, इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद की शिक्षाओं से अलग थीं, ने तिब्बतियों को कोमल बनाया। इसके पश्चात तिब्बत की बाहर आक्रमण करने की प्रवृत्ति समाप्त हो गई। और जब इस कमजोरी के साथ तिब्बतियों ने आक्रमण भी किए तो पराजय ही हाथ लगी। मंगोल प्रभुत्व के पश्चात तिब्बत प्रायः चीन के वास्तविक अथवा नाममात्र के प्रभुत्व में रहा।[17] परंतु चीन द्वारा तिब्बत को वर्तमान रूप में हड़पना,

गुणात्मक दृष्टि से भिन्न है। हानवंशियों को बड़े पैमाने पर यहां बसाकर जनसंख्या का स्वरूप बदलना, आधुनिकीकरण की आड़ में ल्हासा में मदिरालय और जुआखानों को स्थापित करना और उनके धर्मगुरु दलाई लामा के निर्वासन से तिब्बती संस्कृति का विनाश निश्चित प्रतीत होता है। निर्वासित तिब्बती समुदायों की 'लघु तिब्बती बस्तियां' जो भारत और स्विटजरलैंड जैसे देशों में बनी हैं, संभवत: इस गौरवशाली तिब्बती सभ्यता के एकमात्र अवशेष रह जाएंगे।

संदर्भ

1. *चार्ल्स बेल, द रेलिजन ऑफ टिबेट, पृ.11, लंदन, 1968.*
2. *आर.सी. मजूमदार एण्डद अदर, सं., द क्लातसिकल एज, (खंड तीसरा, ऑफ हिस्टमरी एण्डय कल्चमर ऑफ द इंडियन पीपल) पृ. 633-635, भारतीय विद्या भवन, बॉम्बेर, 1954, फिफ्थ एडीशन 1997.*
3. *आर.एस. त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ एंसिएंट इंडिया पृ. 344, दिल्ली, 1942, रीप्रिंट 1992.*
4. *त्रिपाठी, वही; पे.314.*
5. *मजुमदार, क्लानसिकल एज, वही, पृ. 86.*
6. *आर.टी.मोहन, अफगानिस्तान रीविजिटेड: द ब्राह्मण हिंदू शाही ऑफ अफगानिस्तान एंड द पंजाब (सी.840-1026 सी.ई., पी.पी.7- 12, एण्ड, 2-6, दिल्ली, 2010.*
7. *ए.म. स्टेमन, टी.आर; कल्हण राजतरंगिणी खंड 1, इंट्रोडक्शन, पे. 91, दिल्ली 1900, रीप्रिंट1989.*
8. *मजुमदार, द क्लाटसिकल एज, वही. पृ.635 एवं 133.*
9. *स्टेन, राजतरंगिणी, खंड 1,वही IV- 165-169.*
10. *आंद्रे विंक, अल हिंद: द मेकिंग ऑफ इंडो-इस्ला मिक वर्ल्ड1, खंड II, अर्ली मेडीवल इंडिया एंड एक्सपैंशन ऑफ इस्लाम, 7जी-11जी शताब्दी, पृ. 244-245. रीप्रिंट न्यूस दिल्ली, 1999.*
11. *यथा उद्धृत*
12. *मजूमदार, द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, (खंड.IVऑफ हिस्ट्रीड एण्ड कल्चर ऑफ द इंडियन पीपुल), पृ. 446-447, भारतीय विद्या भवन, बॉम्बे,1955, फोर्थ एडीशन 1993.*
13. *यथा उद्धृत*
14. *चार्ल्स बेल, द रिलीजन ऑफ टिबेट, पृ..52, ओयूपी, रीप्रिंट 1968.*
15. *क्लॉलड अर्पी, टिबेट द लॉस्ट फ्रॉटियर, पृ. 24-25, दिल्ली, 2008.*
16. *क्लॉड अर्पी, वही, पृ.26*
17. *चार्ल्स बेल, द रिलीजन ऑफ टिबेट, वही., पे.53.*

फार्म–4

'मंथन' के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे

प्रकाशन स्थान	:	नई दिल्ली
प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
मुद्रक	:	कुमार ऑफसेट प्रिंटर्स
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	शाहदरा, दिल्ली
प्रकाशक एवं स्वामी	:	डॉ. महेश चन्द्र शर्मा एवं एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002
संपादक	:	डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002

मैं डॉ. महेश चन्द्र शर्मा एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिक से अधिक जानकारी और मेरे विश्वास में ठीक है।

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
प्रकाशक

तिथि: 1 मार्च, 2020

क्लॉड अर्पी

भारत और तिब्बत के सांस्कृतिक संबंध भारत से ज्योति का एक विहंगावलोकन

हिमालय की विशाल शृंखला में आद्योपांत एक निरंतरता है, प्रवाह है और यह निरंतरता आदिकाल से ही चलती आ रही है। आदिकाल से ही भारत और तिब्बत एक ही सांस्कृतिक इकाई के भाग हैं। इन दोनों के बीच का अबाध आदान-प्रदान जीवन, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में देखा जा सकता है

जब मुझे भारत और तिब्बत के बीच सांस्कृतिक संबंधों पर संक्षेप में अपनी बात रखने को कहा गया, तब मैंने उसी समय स्वयं से पूछा : शुरू कहां से करूं?

वस्तुत: ये संबंध उतने ही प्राचीन हैं, जितनी कि हिमालय की पर्वत शृंखलाएं।

क्या हम यह मान सकते हैं कि यह कथा पचास करोड़ वर्ष पूर्व शुरू हुई जब एशियाई भूसंस्तर (परत) से भारतीय द्वीप का संघर्षण हुआ? इस 'प्राकृतिक' दुर्घटना के बिना भारतीय द्वीप में जीवन अनंतकाल तक यों ही निर्विघ्न चलता रह सकता था, किंतु संभवत: न तो तिब्बत का सदा के लिए एक समुद्र बना रहना प्रारब्ध था और न ही भारत का एक चिरस्थायी द्वीप बना रहना। भारतीय उप महाद्वीप का टेथिस सागर से संपर्क हुआ और इससे विश्व में एक नई महान पर्वत शृंखला तथा एक सर्वाधिक ऊंचे पठार का उद्भव हुआ। इसे हमारे तिब्बती और भारतीय मित्र संभवत: 'कर्म' कहते हैं। किसे पता?

हालांकि, संभव है कि यह घटना इतिहास को बहुत दूर तक पीछे ले गई हो, पर एशिया के लिए इसके अनेकानेक परिणाम निकले।

ऐतिहासिक पत्र

मैं यहां कुछ ऐसे विषयों पर प्रकाश डालना चाहूंगा, जो हमेशा मुझे अपनी ओर आकर्षित करते रहे। वर्ष 1951 में, भारत का एक धर्मनिर्पेक्ष शासन था, किंतु विदेश मंत्रालय ने अपने ऐतिहासिक विभाग द्वारा लिखित 'एक ऐतिहासिक पत्र' बीजिंग की चीनी सरकार को भेजा। 'हिस्टॉरिकल बैकग्राउंड ऑफ हिमालयन फ्रंटियर' शीर्षक इस पत्र में हिमालय पर्वत शृंखला के पौराणिक अतीत का विशद उल्लेख है।

भारत सरकार का उद्देश्य भारत और तिब्बत के बीच सीमा का अंकन करना था, इसलिए इस पत्र का माओ जेदोंग पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा, जो एक अपेक्षाकृत अधिक भौतिकवादी विचारधारा में आस्था रखते थे। वस्तुत: चीन में पाकिस्तान के तत्कालीन राजदूत, पाकिस्तान के पूर्व विदेश सचिव सुलतान एम. खान ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि एक बार झाउ एनलाई ने उन्हें बुलाया और कहा कि भारतीयों के साथ किसी भी विषय पर गंभीरतापूर्वक विमर्श करना असंभव था, क्योंकि वे निरंतर इतिहास को पुराण एवं धर्म से जोड़ रहे थे। चीन के प्रधानमंत्री संभवत: इसी पत्र का हवाला दे रहे थे।

फिर भी, तथ्य यह है कि हिमालय की महान पर्वत शृंखला हमेशा से संस्कृति का एक चिरस्थायी प्रतीक रही है। यह न केवल व्यापारिक बल्कि धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का एक मार्ग रही है। भारत की दृष्टि में इन पर्वतों का हमेशा एक विशेष स्थान रहा है। उक्त प्रसिद्ध पत्र का एक उद्धरण प्रस्तुत है :

हिमालय की पर्वत शृंखलाएं भारत के जीवन पर सतत प्रभावी रही हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार उनका प्रभाव भारत के भूखंड पर रहा है...

हिमालय की इन पर्वत शृंखलाओं का सबसे पहला संदर्भ ऋग्वेद में मिलता है, जिसकी रचना लगभग 1500 ईसा पूर्व हुई। इसमें उल्लेख है कि हिमालय सभी पर्वतों का प्रतीक है (मंडल 10, अध्याय 10, सूक्त 121.4)।

लगभग 1000 ईसा पूर्व लिखित केन उपनिषद

में हिमालय की पुत्री उमा - उमामहिमावती - का उल्लेयख मिलता है। कथा है कि हिमालय की पुत्री उमा ने देवताओं को उपनिषद के गूढ़ बाह्य शून्यवाद (मायावाद) से अवगत कराया। यह उस ऐतिहासिक तथ्य की एक काल्पनिक अभिव्यक्ति है कि उपनिषदों की रचना हिमालय पर्वत शृंखला के वनवासियों और प्रकृति के क्रोड़ में बसे सुरक्षित क्षेत्रों (फास्टनेसेज) ने की। तदनंतर शताब्दियों तक, भारतीय विचारधारा का ध्यान हिमालय के इन्हीं सुरक्षित क्षेत्रों पर केंद्रित रहा। शिव नीलकंठ, हिमाच्छादित पर्वत (कैलाश) के देव थे; पार्वती हिमालय पर्वत शृंखला की वसंतकन्या पुत्री थीं। गंगा उनकी बड़ी बहन थीं और विष्णु का पवर्त मेरु ब्रह्मांड का कीलक (धुरी) था। हिंदू तीर्थयात्री आज भी हिमालय के इन तीर्थों की यात्रा करते हैं।

पत्र हिमालय पर्वत शृंखलाओं की सुदीर्घ आध्यात्मिक कथा के साथ जारी रहता है। हमारे प्रयोजन के लिए, हमें केवल यह ध्यान रखना चाहिए कि हिमालय पर्वत शृंखला एक भौगोलिक और सांस्कृतिक सत्ता है, हालांकि एक तरफ भारत और दूसरी तरफ तिब्बत है। तिब्बत स्थित कैलाश पर्वत और रक्षस सांस्कृतिक स्तर पर भारत और तिब्बत दोनों से जुड़े हैं। हिमालय के बौद्ध और करोड़ों हिंदू, जिनके लिए यह भगवान शिव का वासस्थतल है, इनकी पूजा-उपासना पूरे उत्साह से करते हैं।

निष्कर्षत:, हिमालय के इस पार या उस पार जो कुछ भी हो रहा है, उसका दोनों ओर से परस्पर संबंध रहा है और हमेशा रहेगा। इस तरह, तिब्बत और भारत के बीच सांस्कृतिक संबंध कुछ ऐसे हैं कि वे हमेशा बने रहेंगे, हालांकि इनमें कभी-कभी ह्रास होता रहा है।

शांगशुंग राजवंश

तिब्बत का आधिकारिक इतिहास सामान्यत: यारलंग वंश के पहले राजा न्यात्री त्सेनपो के ईसा पूर्व 127 में राज्यारोहण के समय से आरंभ होता है। किंतु, तिब्बत की बौद्ध युग के पहले की सभ्यता के नवीन शोध से स्थानीय बॉन परंपरा से संबद्ध एक अति विकसित संस्कृति का पता चला है। यह संस्कृति शांगशुंग राजवंश के समय प्रचलित थी, जो पश्चिमी तिब्बत (तिसे पर्वत, कैलाश पर्वत का एक और नाम, के आसपास) में स्थित था।

शांगशुंग लिपि

बौद्ध-तिब्बती इतिहासकारों का मानना है कि सन् 640 ई. में जब सोंग्त्सेन गोंपो ने अपने मंत्री थोन्मी संभोट को भारत भेजा, तब तक तिब्बत की अपनी कोई लिपि नहीं थी। इसलिए यह माना गया कि लेखन की एक पद्धति के बिना तिब्बत की कोई सांस्कृतिक परंपरा नहीं हो सकती। इन इतिहासकारों के अनुसार, बौद्ध धर्म तिब्बत की संस्कृति का एकमात्र स्रोत था, जिसने एक ऐसे क्षेत्र में कदम रखा, जहां सभ्यता अभी तक पहुंची नहीं थी। तिब्बत की संस्कृति का अस्तित्व और समृद्धि केवल बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार पर निर्भर थी।

किंतु, कई दशकों से बॉन परंपरा पर शोध होता रहा है। यह कहा गया है कि तिब्बत के मूल धर्म का न केवल अपना एक विशाल साहित्यिक ग्रंथसंग्रह था बल्कि उसकी अपनी एक लिपि भी थी, जिसे शांगशुंग लिपि कहा जाता था। प्रो. नामखाइ नोर्बू, जो एक युवा के रूप में प्रो. गियूसेप तुच्ची की सहायता के लिए पश्चिम गए और नैपोली विश्वविद्यालय में शिक्षक हैं, इस दिशा में शोधकार्य में मुख्य भूमिका निभाने वालों में से एक रहे हैं। इसमें पश्चिम और तिब्बत के कतिपय विद्वान उत्साहपूर्वक उनका अनुसरण करते रहे हैं। उन्होंने लिखा : बॉन ऐतिहासिक अभिलेखों के अनुसार, शांगशुंग की मार्यिंग (मार लिपि) तिब्बती लेखन प्रणाली का मूल स्रोत है। ऐसे कई साक्ष्य हैं, जो इस तथ्य को पुष्ट करते हैं। तिब्बत के अति प्राचीन मठों के पुस्तकालयों में मार-त्सुंग नामक एक लिपि में हस्तलिखित कई प्राचीन पांडुलिपियां पाई जाती थीं, जिसकी बनावट तिब्बती यू-मेड (शिरोरेखा विहीन अक्षर) लिपि जैसी ही थी, जिसमें अक्षर दीर्घ और स्वर ह्रस्व होते हैं। जब मैं अपने गृह नगर दर्गे में था, तब अस्सी वर्ष से अधिक आयु के एक सम्मानित सुलेख से त्सुग्स (शिरोरेखायुक्त अक्षर) लिपि और यू-मेड में शिक्षा प्राप्त करता था। एक दिन उन्होंने मुझे एक तिब्बती त्सुग्स लिपि की शिक्षा दी जिसे ल्हाबाब-यिग (स्वर्ग में उत्पन्न लिपि) कहा जाता था... जब मैंने मार-त्सुग में लिखित अति प्राचीन पांडुलिपियों का अध्ययन किया तब समझा, और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि ल्हा-बिग यथार्थत: मार-यिग है।

यह भी देखा जा सकता है कि मार-त्सुग्स और यू-मेड, जिनका उपयोग हम आज करते हैं, का मूल और स्रोत एक हैं और समान हैं।

अन्य विद्वानों का मानना था कि इसका स्रोत एक प्राचीन ब्राह्मी लिपि है।

चिकित्सा पद्धति

शिक्षा की बॉन पद्धति को अक्सर बारह भागों अथवा 'बारह विद्याओं' में बांटा जाता है। इनमें से अधिकांश का संबंध ज्योतिष, शकुन-विचार (सगुनौती), झाड़-फूंक (जादू-टोना/भूत शुद्धि झाड़-फूंक) अथवा भूत-प्रेत आदि के वशीकरण से है। विभिन्न विद्याओं में से एक को 'चिकित्सा/ विद्या' कहा जाता है, जिसके आयुर्वेद पद्धति के समान कई दृष्टिकोण हैं। प्रकृति की अदृश्य शक्तियों का ज्ञान और उनके निवारण की विधि संभवत: बॉन पद्धति की 'विशेषता' थी। आगे चलकर तिब्बत की बौद्ध चिकित्सा पद्धति में कई विशेषताएं शामिल कर ली गई।

दर्शन

सातवीं शताब्दी के बाद, बॉन दर्शन का बौद्ध दर्शन से सामना हुआ और आज स्थानीय घटकों को पहचानना आसान नहीं है। वस्तुत:, दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव रहा है और भाषा की समानताएं मिलती हैं। किंतु बॉन में व्यापक रूप से प्रयुक्त कई शक्तिशाली पौराणिक कथाएं प्राचीन भारत की कथाओं (उदाहरण के लिए ब्रह्मांड की कथा) से मिलती हैं। इससे पता चलता है कि बुद्ध युग में और उससे पहले भी भारत और तिब्बत के बीच निश्चित रूप से ठोस और नियमित संबंध थे।

भारत-तिब्बत संबंधों के इन सभी पहलुओं पर और शोध की जरूरत है।

बुद्ध

ढाई हजार वर्ष से अधिक समय पहले, भारत में एक ऐसी घटना घटी जो एशिया और

विश्व का रूप बदल देने वाली थी। हिमालय की तलहटियों में एक छोटे से राजपरिवार में सिद्धार्थ नामक एक युवा राजकुमार का जन्म हुआ।[1] वही आगे चलकर बुद्ध हुआ।

भारत, तिब्बत, चीन और ज्यादातर एशियाई राष्ट्रों के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर जितना उनका प्रभाव पड़ा उतना किसी भी अन्य व्यक्ति का नहीं। बुद्ध और उनके उपदेश तिब्बत व भारत के संबंधों का मर्म रहे हैं - विशेष रूप से 1400 वर्षों तक।

भारत और तिब्बत के बीच ऐतिहासिक संबंध

तिब्बत को वस्तुत: अपनी भारतीय धरोहर पर गर्व है। तिब्बत के इतिहास में तिब्बत की संस्कृति के विकास में बौद्ध धर्म और भारत के महत्व को हमेशा विशेष स्थान दिया गया है। जैसा कि हमने देखा है, यह अक्सर बुद्ध के पहले के स्थानीय धर्म और संस्कृति के प्रतिकूल रहा है।

प्राचीनकाल से ही, तिब्बत के जनमानस में भारत के प्रति हमेशा से 'देवभूमि' का भाव रहा है। यहां प्रस्तुत कथा में तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रवेश से सदियों पहले के भारत और तिब्बत के ठोस संबंधों का उल्लेख है।

ईसा पूर्व 127 में, यारलंग घाटी के वासियों ने न्यात्री त्सेनपो को तिब्बत का पहला राजा बनाया। कथा है कि वह ईश्वर के अवतार तुल्या थे, जो एक 'स्वर्ग-रज्जु' के सहारे स्वर्ग से अवतरित हुए थे। कथा में आगे उल्लेख है कि न्यात्री मूलत: भारतवासी थे; वह बुद्ध के परिवार से संबद्ध एक राजपरिवार के पुत्र थे। तिब्बत पहुंचने से पहले वह भारत और तिब्बत के बीच घूमते रहे और अंत में यारलंग घाटी आए, जहां वह याकों को चरा रहे कुछ चरवाहों से मिले। तिब्बतियों का मानना है कि वह स्वर्ग से आए थे। बारह सरदारों ने उन्हें अपने कंधों पर बैठाया और उन्हें तिब्बत का पहला राजा बना दिया। उनके राज्यारोहण से ही तिब्बत के यारलंग वंश की शुरुआत हुई। तिब्बत का शाही पंचांग उसी वर्ष से शुरू होता है।

तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश ईसवी सन् की पांचवीं शताब्दी में यारलंग वंश के अट्ठाईसवें राजा ठोरी न्याबत्सेन के शासनकाल के दौरान हुआ। एक बार फिर, एक मंजूषा (डिबिया) के रूप में राजप्रासाद युबुलाखंग पर धर्म का अवतरण हुआ। इस मंजूषा में तिब्बत के संरक्षक और रक्षक अवलोकितेश्वर का मंत्र था। राजा लिपियों को पढ़ नहीं पाए, किंतु भावी पीढियों के लिए एक पवित्र स्मृति चिह्न के रूप में रख लिया।

राजकुल के तेंतीसवें राजा सोंग्त्सेन गोंपो[2] के शासनकाल में बौद्ध धर्म को राज्य ने मान्यता दी।

युंम्बु लंखांग, तिब्बत की यारलुंग घाटी में यारलुंग किंग्स का महल
साभार: https://ravencypresswood.com/2016/12/11/tibetan-kings-of-the-yarlung-dynasty-the-yungdrung-bon/

एक नेपाली और एक चीनी राजकुमारी से विवाह करने के पश्चात, राजा ने बौद्ध धर्म अपना लिया। इन विवाहों के महत्व पर ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रसार में इनकी भूमिका अहम रही। हालांकि सोंग्त्सेन की और भी पत्नियां थीं (विशेष रूप से राजा शांगशुंग की पुत्री), किंतु तिब्बत की राजनीति और धर्म पर बिक्रुटि (नेपाली में भृकुटी) का सर्वाधिक प्रभाव था।

उनके शासनकाल के दौरान तिब्बत मध्य एशिया की सर्वाधिक शक्तिशाली सैन्यशक्ति के रूप में उभरा। तिब्बती राजा को अशिक्षित और असभ्य माना जाता था। इसलिए चीन और नेपाल के शासक उन्हें अपनी बेटियां 'भेंट' करना नहीं चाहते थे, किंतु अपने शक्तिशाली पड़ोसी की 'मित्रता' के प्रस्ताव को स्वीकार करने के सिवाय उनके पास कोई और चारा नहीं था।

इतिहास में उल्लेख है कि राजा सोंग्त्सेन ने तिब्बती साम्राज्य की स्थापना की जिसकी सीमाएं बढ़ती हुई पूर्व में चीन की राजधानी चांग' अन (आज का जियान), पश्चिम में पामीर और समरखंद तथा दक्षिण में हिमालय पर्वत शृंखला तक फैली थीं। यह एशिया का महानतम साम्राज्य था। इसी काल के दौरान राजधानी यारलंग से ल्हासा ले जाई गई और जहां आज पोटाला का प्रासाद खड़ा है, वहां एक किले का निर्माण किया गया। दरबार के धर्म के रूप में बौद्ध धर्म का अभिग्रहण दो देशों के सांस्कृतिक संबंधों में एक ऐतिहासिक घटना है।

तिब्बती लिपि

सोलह छात्रों के साथ अपने मंत्री को बौद्ध धर्म और संस्कृत के अध्ययन के लिए भारत भेजना संभवत: राजा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यों में से एक था। वापस आने पर, उन्होंने एक नई लिपि का आविष्कार किया जो आज भी प्रचलित है। इसके कुछ ही समय बाद बौद्ध धर्मग्रंथों के तिब्बती में सटीक अनुवाद का कार्य आरंभ किया गया।

आम तौर पर, यह माना जाता है कि तिब्बती लिपि सातवीं शताब्दी में कश्मीर में प्रचलित लिपि की नकल है। वर्ष 1956 में जब दलाई लामा भारत आए, तो उन्होंने एक श्रोतावर्ग से कहा :

"थोन्मी संभोट ने क्रमशः उत्तरी और मध्य भारत की लिपियों को आधार बनाकर तिब्बती लिपि का आविष्कार किया।"

इसके कई और भी मत हैं। आज भी, तिब्बती जन दो लिपियों का प्रयोग करते हैं - यू-शेन (शिरोरेखा युक्त) और यू-मेय (शिरोरेख रहित)।

एक अन्य मत यह है कि नेपाल में बौद्धों द्वारा प्रयुक्त एक आलंकारिक लिपि लांत्सा लिपि यू-शेन का स्रोत है और वर्तू लिपि ने यू-मेय का रूप ले लिया है।

एक अपेक्षाकृत अधिक स्वीकार्य मत यह है कि यू-शेन लिपि का स्रोत गुप्त युग के उत्तरार्ध में थोमी संभोट के भारत प्रवास के दौरान प्रचलित एक लिपि थी। यू-मेय अंग्रेजी के छोटे और बड़े अक्षरों की तरह यू-शेन का ही एक रूपांतर है। महान् विद्वान गेदुन शोएपेल ने एक चार्ट में यू-शेन के यू-मेय में विकास का चित्रांकन किया है।

मत जो भी हों, हमारा मानना है कि यह स्पष्ट है कि वर्तमान तिब्बती लिपि का स्रोत भारत में है। यह निश्चय ही तिब्बत की संस्कृति को भारत की माहनतम देन है। लिपि के अतिरिक्त, थोमी संभोट ने जो व्याकरण मंगवाया उसका आधार सातवीं शताब्दी में महान भारतीय विहारों में प्रचलित एक संस्कृत व्याकरण है। उल्लेख समीचीन है कि संभोट को राजा से यथासंभव अधिक से अधिक बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद का आदेश मिलने पर उन्हें लगा कि संस्कृत व्याकरण तथा वाक्य रचना को तिब्बती भाषा के अनुकूल बनाकर अनुवाद का यह कार्य सर्वाधिक सरल और समुचित ढंग से किया जा सकता है। इससे पवित्र सूत्रों के सटीक अर्थ का अनुवाद सरल हुआ। इस प्रकार, कंजूर (108 खंड), जो बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है, का तिब्बती में शुद्ध अनुवाद हो सका।

प्रसन्नता की बात यह है कि आज तिब्बती से संस्कृत में अनुवाद करना और उन मूल पाठ्य विषयों के सही अर्थ का फिर से पता लगाना अपेक्षाकृत आसान है, जो दस शताब्दियों से अधिक समय पूर्व लुप्त प्राय हो चुके हैं।

सोंग्त्सेन के शासनकाल के दौरान अनेकानेक ग्रंथों का अनुवाद हुआ; राजा ने स्वयं अनुवाद कार्य में अभिरुचि दिखाई और इस प्रकार एक विद्वान हो गए। पहली बार बुद्ध के कुछ धर्मादेशों को देश के कानूनों में शामिल किया गया।

तिब्बत के उक्त मंत्री के भारत आगमन के बाद बुद्ध के उपदेश और उनकी शुचिता की खोज में सैकड़ों तिब्बती विद्वान हिमालय के ढलानों को पार करते हुए यहां आए। उनका एकमात्र उद्देश्य बौद्ध धर्म को वापस हिम प्रदेश ले जाना था। परवर्ती शताब्दियों के दौरान, दुनिया की छत के प्रति नवजात आध्यात्मिकता के प्रति भारी संख्या में पंडितों, तांत्रिकों और सिद्धों का आकर्षण बढ़ा और वे यहां आए।

भारत के पंडित और तांत्रिक

सैंतीसवें राजा त्रिसोंग देत्सेन (741-798) ने अपने दूत भारत भेजे और धर्म की शिक्षा देने तथा पहली बार बने महंतों को दीक्षा देने हेतु महान भारतीय मठाधीश शांतरक्षित को तिब्बत आने का आमंत्रण भेजा।

अपने तिब्बत के इतिहास में रिचर्ड्सन ने एक महत्वपूर्ण टिप्पणी की है : ''सोंग्त्सेन गैंपो के धर्म संस्थान और उनके निकटतम उत्तराधिकारी अति सदाचारी उपासनास्थल थे और बौद्ध धर्म का प्रभाव संभवतः केवल कुछ ही लोगों तक पहुंचा।''[3]

किंतु तिब्बत के धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक भविष्य पर इस तथ्य का असीम प्रभाव पड़ा कि राजा ने स्वयं इस नए धर्म को अपनाया।

शांतरक्षित के तिब्बत आगमन के कुछ ही समय बाद स्थानीय बॉनपो धर्मावलंबियों के घोर विरोध के चलते उन्हें नानाविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्होंने राजा को समझाया कि भारत के महान तांत्रिक गुरु, गुरु पद्मसंभव को बुलाना ही इसका एकमात्र समाधान है। वही बौद्ध धर्म की विरोधी शक्तियों को शांत और बॉन पंडितों के विरोध का शमन कर सकते हैं।

पद्मसंभव की चमत्कारी शक्तियों के कई वृत्तांत मिलते हैं, किंतु एक निहायत ही भारतीय (और तांत्रिक) ढंग से, वह अपने कार्य का विरोध करने वाली शक्तियों को मिटा देने के बजाय अपने पक्ष में करने के साथ-साथ उनका प्रयोग करने का हमेशा प्रयास किया करते थे। ये शक्तियां आगे चलकर नए धर्म का रक्षक बनीं।

कतिपय आनुष्ठानिक क्रियाएं पूरी करने के बाद, मध्य तिब्बत के साम्ये में 'स्थानीय देवताओं' का शमन[4] कर दिया गया और अंततः सन् 766 में तिब्बत में पहला बौद्ध मठ बनकर तैयार हो गया। स्थानीय देवी-देवता उस मंदिर के रक्षक बने और शांतरक्षित अंततः तिब्बत के पहली बार बने महंतों को दीक्षा दे सके।

त्रिसोंग देत्सेन के अधीन, बौद्ध धर्म को एक राज्य धर्म के रूप में मान्यता दी गई और करुणा व अहिंसा का सिद्धांत अपेक्षाकृत अधिक उग्र और जादू-टोना के समर्थक लोगों में स्थान पा सका। इसके बाद से युद्ध के प्रति लोगों के जोश का उपयोग आंतरिक खोजों में होने लगा। जीवन के सभी पक्षों में बौद्ध धर्म का प्रवेश हो जाने पर, कभी असभ्य रही जातियों ने कीट-पतंगों तक जीवन के सभी स्वरूपों का सम्मापन करना सीखा। मछलियों और अन्य जीव-जंतुओं के शिकार पर प्रतिबंध लगा दिया गया और उसे पाप समझा जाने लगा।

साम्ये शास्त्रार्थ

मृत्यु के पूर्व, भारतीय पंडित शांतरक्षित (तिब्बतियों में बोधिसत्व के रूप में जाने जाने वाले) ने भविष्यवाणी की कि उन दिनों तिब्बत में बढ़ रहे बौद्ध धर्म की दो धाराओं के बीच संघर्ष होगा।

पहली - चीनी धारा, जिस पर संभवतः ताओवाद का प्रभाव था - का मत था कि ज्ञानोदय एक तत्क्षण प्रकट होने वाला आवेश (ईश्वरावेश) अथवा बोध है। यह केवल संपूर्ण मानसिक और शारीरिक विश्रांति तथा निवृत्ति से प्राप्त हो सकता है। यह विचार पद्धति समस्त चीन में व्याप्ता थी।

दूसरी धारा - भारतीय पंडितों द्वारा पढ़ाई जाने वाली और 'क्रमिक धारा' के रूप में जानी जाने वाली - इस बात पर बल देती थी कि ज्ञानोदय एक क्रमिक प्रक्रिया है, तत्क्षसणिक नहीं, इसके लिए दीर्घकालिक अध्ययन, अभ्यास और विश्लेषण तथा सद्गुणों और सत्कर्मों के संचयन की आवश्यकता होती है। शांतरक्षित जब तिब्बत आए तो ये सारे उपदेश अपने साथ लेते आए थे और विवाद की पूर्व सूचना देते हुए उन्होंने यह संकेत दिया था कि उनका एक शिष्य भारत से आएगा, जो भारतीय धारा का बचाव करेगा। वह

ऐतिहासिक शास्त्रार्थ दो वर्षों (792-794) तक चलता रहा, जिसका उल्लेख इतिहास में 'साम्ये शास्त्रार्थ' के रूप में मिलता है।

शास्त्रार्थ में चीन की 'तत्क्षणवादी धारा' का मत रखने के लिए एक चीनी महंत होशांग ने और भारत का मत रखने के लिए अपने गुरु की भविष्यवाणी के अनुरूप भारत से आए कमलशील ने भाग लिया।

शास्त्रार्थ के अंत में, कमलशील को विजेता घोषित किया गया और राजा[5] ने भारतीय पंथ को तिब्बत के शास्त्रसम्मत धर्म की संज्ञा देते हुए एक घोषणा जारी की। प्रलेख एक नीले कागज पर सुनहरे अक्षरों में लिखा गया और समूचे राज्य में उसका वितरण किया गया।

उसी समय से भारत तिब्बत के धार्मिक ज्ञान का एकमात्र स्रोत बना। यह उदाहरण ऐसे कई उदाहरणों में से एक है, जिसमें तिब्बत के आदिकालीन इतिहास में उसके सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक जीवन में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका की विस्तृत व्याख्या की गई है।

तिब्बत में बौद्ध धर्म का पुनरागमन : दूसरा उद्भव

कोई साम्राज्य तभी वास्तव में महान हो सकता है, जब उसके द्वारा निर्मित भावना (उत्साह) उस साम्राज्य के विघटन का सामना कर ले और एक नए व अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत रूप में पुन: उभरे।

तिब्बत में बौद्धों के साथ अंतत: यही हुआ जब राजा लांग दरमा ने, जिसने नौवीं शताब्दी के आरंभिक दिनों में अपने भाई राजा रालपाशेन से गद्दी छीन ली, सुव्यवस्थित ढंग से बौद्ध धर्म को समाप्त कर दिया।

सन् 842 में एक तिब्बती महंत के द्वारा मारे जाने के पहले तक, राजा लांग दरमा ने तिब्बत के अधिकांश बौद्ध संस्थानों को ध्वस्त कर डाला था। राजा के अत्याचार का इससे भी बुरा परिणाम यह हुआ कि अगले सत्तर वर्षों तक एक भी महंत को दीक्षा नहीं दी जा सकी।

लांग दरमा की हत्या के फलस्वरूप यारलंग वंश का अंत हो गया। तिब्बत राज्य अपनी राजनीतिक समांगता खो बैठा और विभिन्न रियासतों (जैसे यारलंग, पुरंग अथवा शाक्य) में बंट गया। किंतु स्थानीय राजकुमारों अथवा सरदारों ने अपने दक्षिणी पड़ोसियों, भारत और नेपाल, पर अपना ध्यान बनाए रखा। पुराने तिब्बती राजवंश के प्रांतों के कुछ शासकों के प्रयासों के फलस्वरूप, दुनिया की छत पर बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान संभव हो सका।

संभवत: वे उत्तर भारत के सर्वाधिक निकट थे और साथ ही मुसलमान आक्रमणकारियों से बचे रहे, इसलिए भारत में स्पीति और लद्दाख तथा तिब्बत में न्गारी, थोलिंग और पुरंग के हिमालयी क्षेत्रों से आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण की शुरुआत हुई।

भारत में बौद्ध धर्म

दूसरे उद्भव के रूप में विख्यात इस पुनर्जागरण आंदोलन पर दृष्टि डालने से पहले, हमें पहले सहस्राब्द के अंतिम वर्षों के दौरान भारत में बौद्ध धर्म के विकास पर एक सरसरी दृष्टि डालनी चाहिए।

हालांकि बुद्ध संभवत: कभी नहीं चाहते थे कि किसी नए धर्म की स्थापना हो, किंतु भारत में एक संरचित नवीन धर्म के रूप में बौद्ध धर्म का धीरे-धीरे विकास होता रहा, विशेष रूप से अशोक के शासनकाल के दौरान व उसके बाद। उत्तर भारत में कई महान मठ (गोंपा) विश्विविद्यालयों की स्थापना हुई जैसे नालंदा, विक्रमशिला अथवा ओदंतपुरी। उन्हें राजाओं और अति समृद्ध संरक्षकों का आश्रय प्राप्ता था। वे उस समय के शिक्षा के मुख्य केंद्र तथा ज्ञान के आगार थे।

इन महान मठ विश्वविद्यालयों में नालंदा सर्वाधिक प्रसिद्ध था और इसके पाठ्यक्रम में न केवल बौद्ध ग्रंथ और साहित्य बल्कि भाषा विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, ज्योतिष, शास्त्रार्थ तथा अन्य। विज्ञान शामिल थे।

इन मठ विश्वयविद्यालयों की शिक्षा में तंत्रयान को शामिल भी किया गया। विशेष रूप से अतीश, जिन्होंने शीघ्र ही तिब्बत के इतिहास में एक महती भूमिका निभाई, के विक्रमशिला मठ में। पंडित, विद्वान और मठाधीश तंत्रों का न केवल अध्ययन करते बल्कि इनमें से कई लोग इन विद्याओं का अत्याधिक प्रयोग भी करते और विस्तृत टीकाएं लिखते थे।

तिब्बत में पुनरुत्थान

इस पुनर्जागरण को कुछ लोग मानवीय बताते हैं। यहां भारतीय महंत अतीश दीपंकर; तिब्बती महंत रिनशेन जोंगपो; गुगे के राजा येशे ओड के साथ-साथ तिब्बत के एक आम आदमी मारपा का उल्लेख किया जाना चाहिए। ये सभी समस्त हिमालयी क्षेत्र में लोगों के सतत आंदोलन और विचारों के साथ-साथ उस प्रणाली के प्रतीक हैं, जिसमें बौद्ध धर्म अपने समग्र रूप में सुरक्षित था।

चरित्र, लिखाई-पढ़ाई और शिक्षा में भिन्न होते हुए भी उन्होंने तिब्बत में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान में महती योगदान दिया है। उन्होंने बुद्ध के मूल उपदेशों के अनगिनत अनुवाद किए, जिन्हें इस प्रकार भावी पीढियों के लिए सुरक्षित रख लिया गया। दो शताब्दियों के भीतर ही, मुसलमानों के आक्रमण और हिंदू धर्म के पुनरुत्थान के चलते ये ग्रंथ अपने देश और स्रोत से लुप्त हो गए। दूसरी सहस्राब्दी के आरंभिक वर्षों में तिब्बत में मठ अनुशासन का तेजी से ह्रास हुआ और कई मूल उपदेश खो गए।

गुगे के राजा येशे ओड की भूमिका

गुगे पश्चिमी तिब्बत की रियासतों में से एक था; इसके राजाओं में से एक ओड ने दुनिया की छत पर बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान में मुख्य भूमिका निभाई। उन्होंने कई युवा तिब्बतियों को भारत जाने और महान भारतीय विहारों में संतों, योगियों, सिद्धों तथा विद्वानों से मिलने और तिब्बत की बौद्ध पांडुलिपियों को वापस लाने तथा तिब्बती में उनका अनुवाद करने का आदेश दिया। भारत के गर्म मैदानी क्षेत्रों की यात्रा करने वाले इन तिब्बती गुरुओं में रिनशेन जांगपो सर्वाधिक प्रसिद्ध थे।

उन दिनों, तिब्बत और हिमालय क्षेत्र की सीमा कोई निर्धारित सीमा नहीं थी, जैसी कि यह बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हो गई है। इसके विपरीत यह एक अनिश्चित सीमारेखा थी, कम से कम सांस्कृतिक स्तर पर। उदाहरण के लिए, रिनशेन जांगपो का प्रभाव तिब्बत के न्गारी या पुरंग आदि प्रांतों से उत्तर भारत के स्पीति, लाहौल, किन्नौर और जांस्कार जिलों तक फैला था।

हालांकि ल्हालमा येशे ओड कई महंतों को दीक्षा देने में सफल रहे, किंतु उन्हें भान हुआ कि संघ के अधिकांश सदस्य अब

तंत्रों का सिद्धांत न तो समझते थे और न ही उसकी समुचित ढंग से साधना करते थे। कई तो तांत्रिक साधक होने का ढोंग करते, वे अक्सार विनय के धर्मादेशों का उल्लंघन करते और विकृतियों को प्रश्रय दिया करते थे।

इस गंभीर स्थिति से विक्षुब्ध राजा ने ग्या त्सोंद्रुसेंगे को एक दूत के रूप में भारत भेजने का निर्णय लिया। उन्हें यह पता लगाना था कि वह संस्कृत के अधिक से अधिक मूल ग्रंथों का अनुवाद किस प्रकार कर सकते हैं। उन्हें किसी ऐसे पंडित का पता लगाने का प्रयास करने के लिए भी कहा गया जो आसुरी शक्तियों को वशीभूत कर तिब्बत में धर्म का फिर से परिष्कार कर सके। अंततः उन्हें एक बंगाली गुरु अतीश दीपंकर मिले, जिन्हें वे सभी विद्याएं ज्ञात थीं जिनसे वह तिब्बत में मठ नियमों को फिर से चालू कर सकते थे।

अतीश को तिब्बत आने और शिक्षा देने के लिए राजी करने के ध्येय से गुगे के राजा ने सोना जमा कर उन्हें भेजा। उन्होंने तुर्किस्तान जाकर और सोना एकत्र करने का मन बनाया। दुर्भाग्यवश, रास्ते में उन्हें गार्लोक के शक्तिशाली राजा ने पकड़ लिया। यह दुखद समाचार सुनकर येशे ओड के भतीजे जांगचुब ओड ने गार्लोक राजा को फिरौती देकर उन्हें छुड़ाने का निर्णय किया। वह पहले सोने की सौ मुद्राएं देने तैयार हुआ, किंतु गार्लोक के राजा ने कहा कि यह राशि बहुत कम है। वह कई बार आया और गया, किंतु गार्लोक का राजा लामा येशे को छोड़ने से बार-बार मना करता रहा। अंत में, एक दिन जांगचुब ओड अपने चाचा से गुप्त रूप से मिलने में सफल रहा, जिन्होंने उससे कहा कि जो भी सोना वह एकत्र कर सके, उसका उपयोग भारत जाने और अतीश को वापस तिब्बत लाने में किया जाए। उन्होंने उससे कहा कि उनका जीवन उतना महत्वीपूर्ण नहीं है और तिब्बत में मत के पुनरुत्थान में अपने जीवन को होम कर देने में उन्हें खुशी होगी।

तिब्बत वापस आकर जांगचुब ओड ने अपने चाचा की अंतिम इच्छाओं का पालन किया और अतीश से मिलने के लिए एक प्रतिनिधिमंडल को विक्रमशिला भेजा, जिन्हें राजा के बलिदान की सूचना दी गई। अतीश के लिए आमंत्रण को अस्वीकार करना कठिन हो गया। अतीश के साथ प्रतिनिधि मंडल थोलिंग के लिए रवाना हुआ जहां राजा जांगचुब ओड ने अतीश का स्वागत किया।

उस दिन के बाद से, पंडित अतीश को तिब्बत में कई स्थानों पर आमंत्रित किया गया, जहां उन्होंने बुद्ध के उपदेशों-नियमों की शिक्षा दी, मंदिरों की प्राण प्रतिष्ठा की और नए महंतों को दीक्षा दी।

भारत में अपने मठ से चलते समय अतीश ने विक्रमशिला के महंत को वचन दिया था कि वह तीन वर्षों के भीतर भारत लौट आएंगे। तिब्बत में तीन वर्षों के प्रवास के बाद अपना वचन पूरा करने के लिए उन्होंने भारत की सीमा के निकट पुरंग जाने का निर्णय किया।

अतीश एक वर्ष तक पुरंग में रहे और कई उपदेश दिए किंतु भारत वापस कभी नहीं गए। सीमा से अपने देश के दर्शन उनके वचन को पूरा करने के लिए पर्याप्त थे। इस कड़ी की हमने कुछ विस्तार से व्याख्या की है क्योंकि इसमें बौद्ध धर्म को समग्र रूप में इस हिम प्रदेश में लाने के प्रति तिब्बत के लोगों का उत्साह और अभिलाषा परिलक्षित होती है।

तिब्बती चिकित्सा पद्धति

स्वरिग पा (आरोगय कला) के नाम से जानी जाने वाली तिब्बती चिकित्सा पद्धति तिब्बत की संस्कृति पर भारत के प्रभाव और दो देशों के बीच सतत पारस्परिक व्यवहार को परिलक्षित करने का एक महत्व पूर्ण उदाहरण है। तिब्बत के सभी पारंपरिक विज्ञानों की तरह, चिकित्सा पद्धति को भी बुद्ध शाक्य मुनि से ही उत्पन्न माना जाता है। किंतु, तिब्बत के इतिहास ग्रंथ, विशेष रूप से 18वीं शताब्दी के दौरान रिजेंट देसी सांग्ये ग्यात्सो लिखित दि सर्वे ऑफ टिबेटन मेडिकल हिस्ट्री, आयुर्वेद के इतिहास का प्रतिपादन करने वाले वैदिक ग्रंथों से कुछ भिन्न हैं। एकमात्र अंतर यह है कि वैदिक ऋषियों के स्थाान पर बुद्ध को चिकित्सा पद्धति के प्रवर्तक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

तिब्बती चिकित्सा पद्धति के इतिहास को आम तौर पर तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है :

1. देवी-देवता क्षेत्र में चिकित्सा पद्धति का प्रसार
2. मानवीय क्षेत्र में चिकित्सा पद्धति का प्रसार
3. तिब्बत में चिकित्सा पद्धति का प्रसार

देवी-देवता क्षेत्र में चिकित्सा पद्धति के प्रसार के भाग में देवी-देवताओं के बीच प्रचलित अंतर्कलह, समुद्र मंथन जिसमें अमृत छिपा है, विलोड़क दंड के रूप में मेरु पर्वत के उपयोग, बुद्ध और ब्रह्मा के मिलन तथा अमृत की अंततः पुनः प्राप्ति का वर्णन है। तिब्बती परंपरा में, ब्रह्मा बुद्ध से उपदेश प्राप्ति करते हैं : इस प्रकार चिकित्सा विज्ञान चिकित्सा के 100,000 छंद (दि 100,000 वर्सेज ऑफ हीलिंग) शीर्षक एक ग्रंथ के माध्यम से अगली पीढ़ी को प्रेषित किया गया है।

दूसरे खंड में, आत्रेय मुनि को आठ ऋषि शिक्षा देते हैं। उनकी शिक्षा चरक संहिता में संग्रहीत है, जिसे भारद्वाज द्वारा दी गई शिक्षा की टीका माना जाता है। फिर आत्रेय के शिष्यों ने टीकाएं लिखीं जो आयुर्वेदिक पद्धति के मूल स्रोत हैं। आगे चलकर सुश्रुत ने सुश्रुत संहिता की रचना की जिसका बाद में बुद्ध की मध्यमार्ग (माध्यमिक) धारा के संस्थापक नागार्जुन ने संशोधन किया।

तांत्रिक ग्रंथों के अनुसार, बुद्ध शाक्यमुनि ने चार अलग-अलग प्रकारों के शिष्यों को चार तंत्रों की शिक्षा दी। उन्होंने उपचार बुद्ध, भेषगुरु का रूप धारण किया और उड्डियान प्रांत (आज का पाकिस्तान का स्वात) स्थित तनदुग में चिकित्सा के दिव्य प्रासाद में शिक्षा दी।

बुद्ध के विभिन्न शिष्यों ने अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता और आवश्यकताओं के अनुरूप उपदेश ग्रहण किए। देवी-देवताओं ने चिकित्सा के 1,00,000 छंदों (दि 100000 वर्सेज ऑफ हीलिंग) के रूप में इन उपदेशों को सुना, जबकि ऋषियों को चरक संहिता की शिक्षा दी गई। बौद्ध धर्म से इतर लोगों ने कृष्ण ईश्वर तंत्र को अपनाया और बौद्ध धर्म के शिष्यों ने उन्हें तीन संरक्षकों के उपदेशों (दि टीचिंग्सप ऑफ दि थ्री प्रोटेक्टर्स) के रूप में सुना।

तिब्बती चिकित्सा के स्रोत का इतिहास

बुद्ध के जीवन की घटनाओं जैसे चार आर्य सत्यों अथवा राजगृह के निकट गृद्धकूट पर्वत (वेंचर पीक) पर उपदेशों से घनिष्ठता से जुड़ा है।

तिब्बती ग्रंथों में भी बुद्ध के समकालीन और उनके शिष्यों में से एक जीवक के जीवन और उपदेशों का वर्णन मिलता है। नागार्जुन के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने चिकित्सा पद्धति पर कई प्रबंध लिखे। अश्वघोष ने उनकी शिक्षा ग्रहण की। अश्वघोष ने स्वयं कई ग्रंथ लिखे जिनमें अष्टांग-हृदय-संहिता (दि एट ब्रांचेज) प्रसिद्ध है, जिसका लाभ आज भी चिकित्सा विज्ञान के छात्र लेते हैं।

राजा सोंग्त्सेन गोंपो के शासन काल के दौरान, भारत, चीन, मध्य एशिया और फारस के चिकित्सकों और चिकित्सा विशेषज्ञों से चिकित्सा की अपनी-अपनी पद्धति लाने का आग्रह किया गया (कहा जाता है कि कुछ पद्धतियां यूनान से भी आईं[6])।

एक शताब्दी के बाद, प्रसिद्ध चिकित्सक युथोक योंतेन गोंपो (वरिष्ठद) तीन बार भारत आए और आगे चलकर ग्युद शि (चार तंत्र) का संकलन किया जो आज भी तिब्बती चिकित्सा शिक्षा का आधार है। भारतीय चिकित्सा ग्रंथों से ली गई सामग्री के साथ-साथ इसमें कुछ अन्य पद्धतियों, विशेष रूप से तिब्बत की स्थानीय पद्धति, की विशेषताओं को भी शामिल किया गया है। चिकित्सा की एक अति मौलिक और सुव्यवस्थित कला का उदय हुआ।

बारहवीं शताब्दी में युथोक योंतेन गोंपो (कनिष्ठ) ने अपनी छह यात्राओं के बाद भारत में युथोक (वरिष्ठ) के अधूरे कार्य को पूरा किया। युथोक योंतेन गोंपो (कनिष्ठ) के विषय में कहा जाता है कि वह वरिष्ठ युथोक के पुनरावतार थे। ग्युद शि के 156 अध्यायों को आज भी तिब्बती चिकित्सा विद्या का सार माना जाता है और इसलिए उनकी पढ़ाई न केवल तिब्बत में की जाती है बल्कि भारत में निवासित जीवन व्यतीत कर रहे तिब्बती तथा हिमालय क्षेत्र के स्थानीय आमचिस (डॉक्टर) भी उनका अध्ययन-अध्यापन करते हैं।

यहां उल्लेख समीचीन है कि अष्टांग-हृदय-संहिता आज भी न केवल तिब्बती अनुवाद के रूप में (रिनशेन जांगपो के समय से) बल्कि मूल संस्कृत रूप में भी उपलब्ध है। दोनों संस्करणों का अध्ययन करने और दोनों अनुवादों को अपनाने का यह एक उचित अवसर है। इससे दोनों भाषाओं में शाब्दिक समानताएं कायम करने में भी सहायता मिलती है और दोनों साहित्यों की घनिष्ठता का पता भी चलता है।

भारत से बौद्ध धर्म का लोप

किंतु, बुद्ध के देश में, मध्य एशिया के मुस्लिम गिरोहों के भीषण आक्रमण के चलते यह धर्म शीघ्र ही लुप्त, हो गया। पूर्व प्रचलित परोपकारिता का स्थान एक ऐसी संस्कृंति ने ले लिया जिसका आधार शक्ति व क्रूरता थी।

यहां यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि इतिहास में जब भी मठ नियमों का सख्त अनुपालन बंद हुआ, तब संघ में विकृति आई। अपना जीवन धर्म को अर्पित करने की बजाय जब महंतों ने राजनीतिक सत्ता और संपत्ति प्राप्ति करनी चाही, तो भारत की शक्ति लुप्त हो गई और आक्रमणकारियों के लिए द्वार खुल गए। भारत से बौद्ध धर्म के लुप्त होने के कई कारणों में से यह संभवत: एक है।[7]

न्गारी के पूर्व राजा का बलिदान व्यर्थ नहीं गया, भारत के महान सपूतों में से एक ने हिम प्रदेश में बुद्ध के उपदेशों को फिर से शुरू किया।

तंत्र के पंडित फिर से तांत्रिक ग्रंथों के गहरे अर्थ को समझ सके और सबसे बढ़ कर तो यह कि अतीश के गुरुओं के प्रेम और करुणा की शिक्षा सभी लोगों तक पहुंच पाई - आम जन से राजाओं अथवा लामाओं तक।

बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार करने के लिए भारत के पवित्र विहारों के मठाधीशों और महंतों ने अपने में से सर्वाधिक ज्ञानी गुणियों को हिमालय के क्षेत्रों में जाने की अनुमति दी और इस प्रकार भारत ने तिब्बत के साथ उदारता का परिचय दिया। संभवत: उनमें से सर्वाधिक ज्ञानी को पता था कि अतीश भारत के मैदानी भूभाग में वापस नहीं आएंगे और यह कि उनके अपने धर्म का स्थान एक अंधा और अपेक्षाकृत कम करुण धर्म ले लेगा।

येशे ओड

साभार: http://rywiki.tsadra.org/index.php/lha_bla_ma_ye_ shes_%27od

इस अवधि के दौरान, तिब्बत का राजनीतिक जीवन उसके धार्मिक जीवन में पूरी तरह से घुलमिल चुका था। भारत और तिब्बत में 'धर्मनिरपेक्षता' की कोई आधुनिक अवधारणा नहीं थी। किसी भी शक्तिशाली अथवा आध्यात्मिक व्यक्ति का उसके समय की राजनीति पर कुछ न कुछ प्रभाव होता ही था। शाक्य लामाओं (13वीं से 15वीं शताब्दी) के प्रभुत्व काल के दौरान और आगे चलकर दलाई लामाओं के साथ ऐसा ही हुआ।

भारत से न केवल महंतों और साधु-संतों, बल्कि कलाकारों का भी तिब्बत को पलायन भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास का एक महत्वपूर्ण कारण है। जैसा कि टुची की पश्चिमी तिब्बत की खोजों के अपने अध्ययन में एक लेखक ने लिखा है : "भारतीय कला पश्चिमी तिब्बत के मठों की भित्तियों, जो आज भग्नावस्था में हैं, की शोभा

बढ़ाने वाले सुंदर भित्तिचित्रों का प्रेरणा स्रोत तो है ही, भारतीय कलाकार स्वायं भी वहां जाकर बस गए।''[8]

टुची ने स्वयं कहा था कि ''ज्ञान के स्रोत न केवल गुगे के राजा के दरबार में आमंत्रित अथवा भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास की अवधि में शरणागत पंडितों और चिकित्सकों की, बल्कि कलाकारों, विशेष रूप से कश्मीर के कलाकारों, की कहानी भी कहते हैं, जिन्होंने वहां भारतीय परंपराओं को पहुंचाया।''[9]

टुची के ग्रंथ के एक अन्य अध्ययन में मौलिक ने लिखा है :

उस समय अति बलवती मुसलमानों का अत्याचार, नए पंथों का विरोध, रूढिवादी धाराओं का पुनरोदय आदि पहले ही हिंदुस्थान के मैदानी क्षेत्रों में बौद्ध धर्म के पतन का संकेत दे चुके थे। मुसलमानों के उत्पीड़न से त्रस्त विहारों और विश्वविद्यालयों के महंत और संत, चित्रकार और मूर्तिकार धीरे-धीरे हिमालय की घाटियों में चले गए और उन्हें गुगे के दयालु राजा ने बचाया। यहां अति अंधकारमय वातावरण (वर्तमान स्थिति) में जीवन का एक असाधारण उत्साह कायम था जहां नगर थे, मंदिर थे, मठ थे और बाजार थे। भारत की कला-प्रतिभा वहां अपने उत्कृष्ट चिह्न छोड़ आई थी, जो बदलते घटनाक्रमों और लोगों की लापरवाही के चलते और भी विरूपित होने जा रहे थे।[10]

बारहवीं शताब्दी के आरंभ में, तिब्बत के दक्षिणी पड़ोसी ने उसका साथ देना छोड़ दिया। जीवित रहने और फलने-फूलने के लिए उसे किसी नए साथी की जरूरत थी।

तिब्बत उत्तर और पूर्व की ओर

बारहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में मंगोल साम्राज्य के उदय के साथ तिब्बत के इतिहास में एक नया मोड़ आया। चंगेज खान के आततायी झुंडों के आधे यूरोप और चीन समेत ज्यादातर एशियाई देशों में उमड़ आने के बाद, चंगेज खान का साम्राज्य विश्व के ज्ञात इतिहास में विशालतम साम्राज्यों में से एक बन गया। तिब्बतियों के पास अपने शक्तिशाली पड़ोसियों के साथ मैत्री कायम करने के अलावा और कोई चारा नहीं था।

ऐसे में एक व्यवस्था तय हुई। लामागण (सबसे पहले तिब्बती बौद्ध धर्म के शाक्य लामागण) मंगोल खानों के शिक्षक बन गए, जिन्होंने इसके बदले हिम प्रदेश को सैन्य संरक्षण दिया। इस योजना में, जो कुछ शताब्दियों तक मिंग और किंग (मंचू) राजवंशों के अधीन रही, भारत कहीं नहीं था।

किंतु, नितांत रूप से आत्माकेंद्रित एक तिब्बत के लिए भारत 'पावन भूमि' बना रहा। चौदहवें दलाई लामा के शब्दों में : "हमारे लिए, यह हमेशा से पवित्र भूमि रहा है। यह बौद्ध संस्कृति के प्रवर्तक की जन्मभूमि और सैकड़ों वर्ष पूर्व भारतीय संतों व द्रष्टाओं द्वारा हमारे पर्वतीय क्षेत्रों में लाए गए ज्ञान का स्रोत था। तिब्बत व भारत के धर्म और समाज विभिन्न रूपों में विकसित हुए हैं, किंतु तिब्बत फिर भी भारतीय सभ्यता की एक संतान था।"

सन् 1950 तक भारत तिब्बत के सभी बौद्धों का मुख्यतीर्थस्थंल था।

आधुनिक काल

भारत अगस्त 5, 1947 में, स्वतंत्र हुआ। भारत-तिब्बत संबंध नेहरू सरकार की प्राथमिकता नहीं थी, जो शीघ्र ही कश्मीर के उपद्रव में उलझ गई। किंतु, जुलाई, 1947 में, दिल्ली ने ल्हासा सरकार को सूचना दी कि भारत पहले की तरह संबंध बनाए रखना चाहता है।

अंतत: जब भारतीय गणतंत्र ने आकार ग्रहण किया, तब धर्मचक्र को भारत के राष्ट्रीय ध्वज में शामिल किया गया और अशोक स्तंभ राष्ट्र का राज्य-चिह्न बना। इस घटना ने तिब्बत के लोगों को उस समय की याद दिला दी जब उत्तर भारत और तिब्बत एक सांस्कृतिक इकाई थे।

अप्रैल, 1954 में पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर करने के साथ ही भारत ने चीन के उस दावे को स्वीकार कर लिया कि तिब्बत ''चीन का एक भूभाग'' था। किंतु समझौते की ज्यादातर उपधाराएं भारत और तिब्बत के बीच सांस्कृंतिक आदान-प्रदान से संबद्ध थीं।

दो वर्षों के बाद, वर्ष 1956 में, भारत सरकार ने बुद्ध महापरिनिर्वाण के 2500वें वार्षिक समारोह (महापरिनिर्वाण दिवस) का अयोजन किया। युवा दलाई लामा और पंचेन लामागण को इसमें भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया। दिल्ली में एक भाषण में दलाई लामा ने घोषणा की :

इस वर्ष, उस कृपालु की दयालुता को स्मरण करने के ध्येय से, भारत सरकार अपनी परंपरा के अनुरूप बृहत स्तर पर उनका 2500वां वार्षिकोत्सव (महापरिनिर्वाण दिवस) मना रही है। भारत ने इन समारोहों में बौद्ध और बौद्धेतर देशों के प्रतिष्ठित अतिथियों को आमंत्रित किया है, और मैं स्वयं को अति भाग्यशाली मानता हूं कि मुझे उनकी सेवा करने का अवसर मिला। हमारा विश्वास है कि भारत के ये महती कार्य न केवल पूर्व के देशों में धर्म में हमारी आस्था को सुदृढ़ करेंगे, बल्कि पश्चिम में इन शाश्वत सत्यों का प्रचार-प्रसार करने में भी बहुत सफल होंगे।

यदि धर्म का प्रचार-प्रसार समूचे विश्व में हो जाए, तो हमारे भावी जीवन के लिए तो इसके फल मीठे होंगे ही; हमारे वर्तमान में व्याप्त घृणा, एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण और हिंसा के रास्ते के कार्य भी बंद होंगे, और एक समय आएगा जब एक समृद्ध और खुशहाल संसार में सभी मित्रता व प्रेम के साथ रहेंगे। मुझे खुशी है कि मुझे उन प्रयासों के प्रति अपना विनीत आभार प्रकट करने का अवसर मिला, जो छोटे देशों को स्वतंत्र कराने और आक्रमण तथा युद्ध को रोकने के लिए कई शांतिप्रिय देश दिन-रात कर रहे हैं। मैं समझता हूं कि अपरिमित कष्ट उठाते हुए महान विद्वानगण जिस धर्म को हमारे देश लाए, यदि उसका पतन हो जाए, तो हमारा जीवन लक्ष्यहीन हो जाएगा।

दुर्भाग्यवश, भारत की पहली यात्रा के बाद तीन वर्षों के भीतर ही दलाई लामा को अपना देश छोड़ कर वहां शरण लेनी पड़ी।

हिमालयी बौद्ध संस्कृति

यहां यह उल्लेख उचित है कि पहले उद्भव के समय से उत्तर भारत के अधिकांश भागों और तिब्बत का एक समान धर्म तथा सांस्कृतिक परंपरा रही है। लद्दाख, लाहौल, स्पीति, किन्नौर, अरुणाचल प्रदेश अथवा सिक्किम की सभ्यता तिब्बत की सभ्यता से बहुत मिलती है। यहां यह उल्लेख भी किया जाना चाहिए कि एक दलाई लामा, त्सांगयांग ग्यात्सो (छठे दलाई लामा) का

जन्म अरुणाचल प्रदेश के तवांग जिले में हुआ था; उनके अंतिम दिनों में उन्हें पांचवें दलाई लामा का अवतार माना और ल्हासा ले जाया गया। तवांग के आसपास के गांवों में उनकी युवावस्था के कई साक्ष्य आज भी देखे जा सकते हैं।

भारतीय तिब्बत (कई विद्वान इस क्षेत्र को इसी नाम से पुकारते हैं) और हिम प्रदेश के बीच आचार-व्यावहार का आदान-प्रदान पचास के दशक के अंत तक जारी रहा। मैंने स्वयं हिमाचल प्रदेश और लद्दाख के कई मठों में लामा, नोरबू रिनपोशे के चित्र देखे हैं। स्थानीय लोग एक योगी के रूप में उनका बहुत सम्मान करते थे। जब मैंने और जानकारी चाही तो मुझसे कहा गया कि उन्होंने योग विज्ञान (विशेष रूप से नरोपा के छह योग) की शिक्षा पश्चिमी तिब्बत के दर्गे में ग्रहण की थी, जो आज चीन के सिचुआन प्रांत में स्थित है। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि 20वीं शताब्दी के मध्य तक, भारत के हिमालयी क्षेत्रों और तिब्बत के सभी क्षेत्रों के बीच संस्कृतियों का आदान-प्रदान बृहत स्तर पर जारी था।

वर्तमान सांस्कृतिक संबंध

दलाई लामा 31 मार्च, 1959 को भारत पहुंचे। अगले वर्षों के दौरान, उनके बाद एक लाख से अधिक उनके देशवासी आए। भारत सरकार से आश्रय मिलने के बाद वह पहले दो वर्षों तक मसूरी में रहे और तदनंतर धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश) को अपना मुख्यालय बनाया। यहां से उन्होंने तिब्बत की संस्कृति की संरक्षा का प्रयास शुरू किया जो वहां तिब्बत में संकट में थी।

अन्य प्रयासों के अतिरिक्त, उन्होंने कई संस्थानों की स्थापना की जो इस प्रकार हैं :

1. धर्मशाला में चिकित्सा विद्यालय (दि स्कूल ऑफ मेडिसिन इन धर्मशाला) (मेन-त्सी-खंग)
2. धर्मशाला में तिब्बती प्रदर्शन कला संस्थान (दि पर्फामिंग आर्ट्स इन धर्मशिला)
3. धर्मशिला में तिब्बती ग्रंथों का ग्रंथालय एवं अभिलेखागार (दि लाइब्रेरी ऑफ टिबेटन वर्क्स एंड आर्काइव्स इन धर्मशाला), जहां प्राचीन पांडुलिपियों को सुरक्षित रखने के साथ-साथ पुस्तकों का प्रकाशन किया जाता है।
4. कर्नाटक में तीन महान गेलुकपा (पीत संप्रदाय) मठ (दि श्री ग्रेट गेलुकपा (येलो सेक्टा) मोनेस्ट रीज) (गांदेन, सेरा और द्रेपुंग)
5. दिल्ली में तिब्बत भवन (तिब्बत हाउस), भारत की राजधानी में तिब्बत की संस्कृति के संरक्षण का सांस्कृतिक केंद्र।

सारनाथ (उत्तर प्रदेश) में भारत सरकार की सहायता से एक तिब्बती विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। आज यह न केवल पीएचडी स्तर तक के छात्रों को सुविधाएं प्रदान करने वाला प्रसिद्ध केंद्रीय उच्चतर तिब्बती शोध संस्थान (सेंट्रल इंस्टिट्यूट ऑफ हायर टिबेटन स्टडीज) है, बल्कि यहां लुप्तप्राय पांडुलिपियों के तिब्बती से संस्कृत में पुनरानुवाद का एक अति साहसिक कार्यक्रम भी शुरू किया गया है। प्रो. जी. सी. पांडे जैसे तेजस्वी विद्वानों ने इस संस्थान का मार्गदर्शन किया है।

भारत में आज उन अधिकांश मठ विश्वविद्यालयों की पुनर्स्थापना की जा चुकी है, जो सन् 1959 में अस्तित्व में थे। ये संस्थान इस प्रकार हैं :

1. राजपुर (उत्तरांचल) में दि शाक्य सेंटर (शाक्य केंद्र)
2. क्लेमेंट टाउन (उत्तारांचल) में दि माइंडरॉलिंग मोनैस्टरी
3. रुमटेक (सिक्किम) में कर्मपा मुख्यालय
4. कर्नाटक और पश्चिम बंगाल में कई अन्यं महत्वपूर्ण मठ

दोलनजी (हिमाचल प्रदेश) में बॉन परंपरा का भी एक केंद्र है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दुनिया की छत पर एकांतवास के एक लंबी अवधि के बाद बौद्ध पंडित भारत लौट आए हैं।

हालांकि भारत और तिब्बत के बीच के ये सांस्कृतिक संबंध कठिन दौरों से गुजरे हैं, किंतु बीती शताब्दियों के दौरान वे कई भीषण आक्रमणों को झेलते हुए जीवित रहे। भारत में दलाई लामा की उपस्थिति और भारत सरकार का उनके प्रति ध्यान उनकी उत्तरजीविता के कारण हैं।

साभार : *डायलॉग*, अक्टूबर-दिसंबर, 2004. खंड 6, अंक 2

संदर्भ

1. *शाक्यमुनि का जन्मस्थान लुंबिनी आज भारत की सीमा से कुछ किलोमीटर दूर नेपाल में स्थित है।*
2. *605-649 ई.*
3. *रिचड्र्सन, यथा उद्धृत, पृ. 30।*
4. *एक लंबे समय तक, रात में इन गुप्त शक्तियों ने तिब्बत के पहले मंदिर में दिन में पूरा किए गए निर्माण कार्य को ध्वस्त कर दिया।*
5. *त्रिसोंग देत्सेन।*
6. *गेलिनोस।*
7. *मुसलमानों के आक्रमणों के अतिरिक्त, अन्य कारणों की एक सूची इस प्रकार है : बौद्ध धर्म के स्थान पर एक पुनरुज्जीवित हिंदू धर्म को शाही संरक्षण, बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म के वैसे कई दृष्टिकोणों का एक होना, जो बौद्ध धर्म को आदि शंकर प्रतिपादित हिंदू धर्म से अलग करते थे, और अंत में आध्यात्मिकता और ज्ञान का केवल विहारों के आसपास केंद्रित होना।*
8. *मोनींद्रमोहन मौलिक, इंडियन आर्ट इन तिब्बत - टुची ऐज एक्स्प्लोरर एंड मिस्टिक (नई दिल्ली : दि मॉडर्न रिव्यू, 1938), पृ. 491।*
9. *टुची एवं घर्सी, सीक्रेट्स ऑफ तिब्बत (लंदन, 1935), पृ. प०।*
10. *एम. मौलिक, न्यू लाइट ऑन इंडियन सिविलाइजेशन इन दि रिसर्चेज ऑफ टुची (कोलकाता : अमृत बाजार पत्रिका, अप्रैल 19, 1936)।*

डायलॉग (आस्था भारती की एक त्रैमासिक पत्रिका)
आस्था भारती

मिग्मार सेरिंग

शाक्य पंडित की तीन मुख्य कृतियों की झलकियां

कुंग ग्येल्त्सेन को ही पूरी दुनिया शाक्य पंडित के नाम से जानती है। यह उपाधि उन्हें उनकी ज्ञान की उपलब्धियों और संस्कृत ज्ञान को देखते हुए दी गई थी। तिब्बती परंपरा में उन्हें मंजुश्री के प्रतिरूप के तौर पर देखा जाता है। मंजुश्री वस्तुतः सभी बुद्धों की ज्ञानराशि का पुंजीभूत स्वरूप हैं। शाक्य पंडित की तीन प्रमुख कृतियों पर एक दृष्टि

एक विद्वान और लेखक के रूप में शाक्य पंडित (शा स्क्य पंडित कुंद्गा' ग्र्याल म्तशान, 1182-1251) के महत्व का ज्ञान उन तिब्बती और इतर तिब्बती दोनों विद्वानों को है, जो स्वयं को उस हिमालयी देश की संस्कृति और इतिहास से संबद्ध मानते हैं। वह पहले तिब्बती पंडित, अर्थात पहले प्रतिभाशाली विद्वान थे, जिनका भारत की पारंपरिक बौद्ध विद्या की शाखाओं पर आधिपत्य था, और तिब्बत में उन्होंने संस्कृत की साहित्यिक कलाओं, जैसे काव्यशास्त्र और छंदशास्त्र, समेत ज्ञान के लघु क्षेत्रों में से कई क्षेत्रों का विकास भी किया। किंतु यह घोर आश्चर्य की बात है कि शाक्यपा परंपरा से बाहर के लोगों को आज शाक्य पंडित के धर्म और दर्शन से संबद्ध ग्रंथों के महती सैद्धांतिक महत्व का ज्ञान प्रायः नहीं है।

इसलिए आगामी पृष्ठों पर मैं उनके तीन मुख्य सैद्धांतिक ग्रंथों पर संक्षेप में अपनी बात रखना चाहूंगा - (1) *मुनिमतप्रकाश (दि एल्युसिडेशन ऑफ दि सेजेज इटेंट)*, (2) *प्रमाणयुक्त निधि (दि ट्रेजर ऑफ रिजनिंग/आगे दि माइन ऑफ रिजनिंग किया गया है)*, और (3) *दि डिस्क्रिमिनेशन ऑफ दि श्री वाउज (आगे दि डिफरेंशिएशन ऑफ दि श्री वाउज किया गया है)*।

(1) *मुनिमतप्रकाश (थुब पा' इ द्जोंग्स ग्सल)*

इस पहले प्रबंध का संबंध प्रज्ञापारमिता और माध्यमिक दोनों से है, और यह प्रज्ञापारमिता सूत्रों के प्रत्यक्ष और परोक्ष अर्थों के दो व्याख्यागकारों आर्य नागार्जुन और मैत्रेयनाथ के विचारों के अनुरूप है। यह प्रबंध वस्तुतः महायानसूत्रालंकार के 20वें अध्याय के दो मुख्य छंदों के एक अवतरण की टीका है, जिसमें बोधि की व्याख्या की गई है। इन पंक्तियों में शाक्य पंडित को महायान पथ का सिद्धांत और कार्यप्रणाली दिखाई देती है, क्योंकि इसमें यहां प्रस्तुत सात विषयों की एक एक करके गणना की गई है : (1) आध्यत्मिक परंपरा (गोत्र) (2) शरण (आश्रय) (3) बोधिचित्त (4) छह पारमिताएं (5) शिष्य एकत्र करने के चार माध्यम (6) आध्यात्मिक मार्ग और अवस्थाएं और (7) बुद्धत्व की अवस्था। प्रत्येक विषय एक खंड का विषय है। अंतिम खंड में, बुद्ध के साधारण और असाधारण गुणों का वर्णन करते समय, वह इसमें एक और अंश जोड़ते हैं : उन्होंने सूत्रालंकार के अंतिम अध्याय में पहले से विद्यमान सत्रह छंदों के एक परिशिष्ट के रूप में तेरह पूरक छंद लिखे हैं। इस तरह उन्होंने पवित्र गुणों के तेरह प्रकारों को ग्रहण कर बुद्ध की स्तुति करते हुए इस प्रबंध को पूरा किया है।

दो सत्य

महायान दर्शन में, ये दो सत्य उन विषयों में से एक हैं जिन पर दर्शन ग्रंथों में सर्वाधिक व्यापक स्तर विमर्श हुआ है। शाक्य पंडित ने इसके साथ-साथ अन्य प्रबंधों में भी इस प्रकरण पर अलग से विचार किया है। आरंभ में, शाक्य पंडित मध्यमकावतार में प्रस्तुत इन दो सत्यों के लक्षणों को स्वीकार करते हैं, जिनमें कहा गया है :

'सम्यक् दृष्टि (करेक्ट सीइंग) का विषय परमार्थ सत्य है,

और मिथ्या दृष्टि (इरोनियस सीइंग) का संवृति सत्य।'

सम्यक् दृष्टि का संबंध आर्यों के शमथ (समहिता) से और मिथ्या दृष्टि का संबंध विषयों

को वास्तव में सत रूप में स्वीकार करने की मिथ्या अभिधारणा से उत्पन्न अविद्या के कारण भ्रमित प्रज्ञान से होता है। किसी आम प्राणी की ज्ञान की जांच यथार्थत: कोई सम्यक् दृष्टि नहीं होती बल्कि इसके वास्तविक अस्तित्व के अस्वीकरण के चलते यह उसमें निहित रहती है। इसी प्रकार, निम्न आर्यों का पृष्ठलब्ध यथार्थत: मिथ्या दृष्टि नहीं होता किंतु क्योंकि उनकी बोधशक्ति की स्थिति संवृति होती है, इसलिए वह उसमें निहित होता है। इस प्रकार, सभी विषय और द्वैत रूप में प्रकट होने वाले गोचर विषय संवृति सत्य अथवा भ्रांतिकर सत्य हैं, जबकि परमार्थ सत्य सभी निष्प्रपंचों से मुक्ति की अवस्था है, जो द्वैधता का निवारण कर आर्य के शमथ (समहिता) में महसूस की जा सकती है। बोधिचर्यावतार (वह जो विवेकपूर्ण ज्ञान की व्याख्या करे) के नौवें अध्याय में, कहा गया है :

"परमार्थ सत्यक मन से महसूस किया जाने वाला विषय नहीं है।

मन को संवृति सत्य के रूप में समझा जाना चाहिए।''

इसमें इन दो सत्यों का लक्षण (म्तशन न्यिद) नहीं बल्कि ''शब्द लक्ष्य के दृष्टांत (म्तशन ग्जी)'' दिखाई देते हैं। फलत:, चंद्रकीर्ति और शांतिदेव इन दो सत्योंल की जिस प्रकार पहचान करते हैं, उसमें वे समान प्रतीत होते हैं।

इस तथ्य के समर्थन में कि सभी अतियों और परिग्रहों से मुक्ति की अवस्था संसार है, शाक्य पंडित विभिन्न सूत्रों का हवाला देते हैं, जैसे समाधिराजसूत्र और कश्यपपडिपृच्छसूत्र, और इसके अतिरिक्त, हमारी अपेक्षा के अनुरूप वह नागार्जुन के दार्शनिक प्रबंधों का दृष्टांत भी देते हैं। वे सब रिक्तता या शून्यता मात्र के विचार की एकमत होकर निंदा करते हैं। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि शब्द 'शून्यता' अपने उपयोग के तरीके के अनुरूप दो अलग-अलग अर्थों को जाहिर करता है। पहला, शून्यतामात्र, पहले अतिमात्र (एक्स्ट्रीम एलोन) अर्थात सत की अति (एक्स्ट्रीम ऑफ एग्जिस्टेंस) से मुक्त होने की शून्यता, और दूसरा सभी अतियों (एक्स्ट्रीम्स) से मुक्त होने की परमार्थ शून्यता (अल्टिमेट एंप्टीनेस)। शून्यता के विचार पर सूत्रों और शास्त्रों में प्रहारों का लक्ष्य स्पष्टत: पहली

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि शब्द 'शून्यता' अपने उपयोग के तरीके के अनुरूप दो अलग-अलग अर्थों को जाहिर करता है। पहला, शून्यतामात्र, पहले अतिमात्र (एक्स्ट्रीम एलोन) अर्थात सत की अति (एक्स्ट्रीम ऑफ एग्जिस्टेंस) से मुक्त होने की शून्यता, और दूसरा सभी अतियों (एक्स्ट्रीम्स) से मुक्त होने की परमार्थ शून्यता (अल्टिमेट एंप्टीनेस)

शून्यता की अभिधारणा है। यही कारण है कि बुद्ध और नागार्जुन अपने अनुयायियों को बार-बार सजग करते रहे कि वे मिथ्या शून्यता (रांग एंप्टीनेस) की कामना न करें। समाधिराजसूत्र में एक विशिष्ट गुणी व्यक्ति का एक उल्लेखनीय वृत्तांत आया है, जो शून्यता के लिए बारह वर्षों की लंबी अवधि तक ध्यान में लीन रहा, पर अंतत: उसे एक बिल्ली के रूप में अपने पुनर्जन्म से संतोष करना पड़ा। इसलिए, नागार्जुन चेतावनी देते हैं :

"यदि देखा जाए शून्यता को अनुचित ढंग से,

तो निश्चित है नाश उनका जिनकी बुद्धि तुच्छ है,

वैसे ही जैसे पकड़ा जाए किसी सांप को अनुचित ढंग से

या किया जाए अनुचित ढंग से उपयोग माया का।"

किंतु, इन दोनों सत्यों, जिन्हें विद्वान शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत करते, धारणात्मक दृष्टि से जिनका ज्ञान प्राप्त करते और अन्वेषण करते हैं, का अधार अनिवार्य रूप से ऊपर वर्णित आधार से भिन्न होना चाहिए, क्योंकि इन सत्यों का अस्तित्व पूरी तरह से सांसारिक विचार पर निर्भर करता है। आर्यों के शमथ (समहिता) के लिए वे दोनों संवृति सत्य हैं। दो सत्यों का यह विन्यास नागार्जुन द्वारा मूलमध्यमकारिका में उल्लिखित वह विन्यास है जहां वह कहते हैं :

"बुद्ध जो उपदेश देते हैं वे इन दो सत्यों पर आधारित हैं।"

संक्षेप में कहें तो इस संदर्भ में उल्लिखित परमार्थ सत्य और चंद्रकीर्ति द्वारा वर्णित परमार्थ सत्य का लक्षण एक नहीं है।

कुछ विद्वान मानते हैं कि माध्यमिक अपने ही किसी सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता क्योंकि माध्यमिक का अर्थ एक आर्य है और माध्यम का तात्पर्य आर्य के शमथ (समहित) से है जहां निष्प्रपंचों का शमन किया गया है। दूसरे शब्दों में, इन दो सत्यों के तंत्र की रचना केवल ऐहिक उद्भावनात्मक विचार के आधार पर की जाती है। कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि प्रासंगिक माध्यमिक के अनुसार संवृति सत्य में भी सत-असत के सिद्धांत को सभी दृश्यप्रपंचों (व्यवहारों) पर लागू किया जाना चाहिए। दूसरी तरफ, दूसरी धारा कहती है कि यह सिद्धांत न केवल संवृति सत्य के लिए बल्कि परमार्थ सत्य के लिए भी अप्रयोज्य है। यहां शाक्य पंडित इन सभी दृष्टिकोणों को अस्वीकार करते हैं। इसके विपरीत, वह दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि परमार्थ सत्य। में प्रत्येक गोचर विषय न तो सत न असत, न दोनों अथवा न ही इनमें से कोई एक होता है। केवल सहज रूप से स्थापित सत अथवा तथ्यात्मक रूप से स्थापित सत का खंडन कभी भी पर्याप्त अथवा पूर्ण नहीं होता।

ये दोनों सत्य एक हैं अथवा अलग-अलग इस प्रश्न के संबंध में, शाक्य पंडित ने लिखा है कि वे अलग-अलग हैं, किंतु भिन्न सत्ताओं अथवा अभिलक्षणों के अर्थ में नहीं। यह पृथक्करण का एक विशेष प्रकार है, पृथक्करण अर्थात् एकत्व का त्याग, जैसे 'सत' और 'असत' के मामले में। इन दो सत्यों पर, इनके एक अथवा अयुत के रूप में, विचार करने हेतु समाधिनिर्मोचनसूत्र में जिन प्रमादों का उल्लेख किया गया है उनका तात्पर्य परमार्थ सत्य में ऐसे विचारों से है। इसलिए, यह मत कि स्वरूप में ये दोनों सत्य एक हैं (*न्गो बो*) किंतु व्यतिरेक भाव से उन्हें एक दूसरे के विपरीत (*ल्दोग पा था दाद*) बताना अति विवादास्पद है।

इस धारणा का खंडन कि संवृतिक दृश्यप्रपंचों का निर्धारण ज्ञान के प्रामाणिक

माध्यमों से होता है।

संवृति सत्य के संदर्भ में, जिसे अन्य लोग प्रमाणों (वैलिड मींस ऑफ नॉलेज) के आधार पर निर्धारित संवृतिक दृश्यदप्रपंच मानते हैं, यहां स्वीकार्य नहीं है। दृश्यप्रपंच केवल वहीं तक प्रामाणिक होते हैं जहां तक संवृति लौकिक विज्ञानों का संबंध है। आर्य के शमथ (समहिता) अथवा किसी विश्लेषक के ज्ञान के विश्लेषण में, किसी दृश्य प्रपंच या व्यवहार को प्रामाणिक ढंग से स्थापित नहीं माना जाता, वह चाहे कोई आरोपित विषय (*ब्तग्स योद*) हो अथवा अनुमान आधारित कोई विचार (*'द्गोस ब्यीद*) या फिर वह आधार जिस पर गलत ढंग से किसी अन्वारोप को स्थापित (*ग्दस ग्झी*) किया जाए। दृश्यप्रपंच की वास्तविकता का पर्यालोचन करने के बाद भी, यदि कोई प्रामाणिक विषय छूट जाए, तो वह निस्संदेह सहज रूप में अस्तित्व में रह जाएगा। परमार्थ सत्य में, आर्य के सर्वातीत ज्ञान की सहायता से सिद्ध किसी दृश्यप्रपंच को छोड़कर कोई दृश्यप्रपंच नहीं होता। शाक्य पंडित के अनुयायी इस बात को नहीं मानते कि अवास्तविक दृश्यप्रपंच कभी असत नहीं होते, इस तथ्य के बावजूद कि आर्य के अमूर्त ज्ञान में उनकी कोई मान्यता नहीं है। ऐसा मानना लौकिक यथार्थ में किसी मृग मरीचिका के अस्तित्व, आकाशकुसुम आदि के अस्तित्व् को सत्य मानने जैसा है, इस तथ्य के बावजूद कि उन्हें मोह रहित चक्षुर्विज्ञान से नहीं देखा जा सकता।

कुछ विद्वान यह विलाप करते हुए कहते हैं कि यदि ज्ञान के प्रामाणिक माध्यम से संवृति दृश्यप्रपंचों के आधार को ध्यान में नहीं रखा जाए, तो हम अलग-अलग दृश्यप्रपंचों के अलग-अलग कार्यों की व्याख्या नहीं कर सकते, जैसे इस दृश्यप्रपंच में अंतर कि आग जलती है और पानी नहीं जलता। इसके अतिरिक्त, हम कार्य-कारण धर्म का निर्धारण नहीं कर सकते। किंतु, यहां इस दुविधा का कोई परिणाम नहीं है। शाक्य पंडित प्रत्यक्ष रूप से चंद्रकीर्ति और अन्य विद्वानों के उन कथनों का अनुसरण करते हैं कि सभी दृश्यप्रपंच (उनके विशिष्ट कार्यों समेत) विश्व में केवल उन प्राणियों के लिए विद्यमान रहते हैं, जिन्होंने उन्हें विश्लेषण का विषय नहीं बनाया है। यदि विश्लेषण से विषयों की खोज उनके आरोपण के मूल सिद्धांतों में अथवा अन्यथा की जाए, तो वे कतई प्राप्त नहीं हो सकते।

इसी प्रकार, यदि कोई व्यक्ति कोई परमार्थ विश्लेषण न करे, तो किसी कर्म और उसके प्रभाव के बीच संबंध भी केवल संवृति सत्य में ही सुस्थापित होता है। कारण अर्थात कर्म के प्रभाव का अनुभव जब तक न हो, तो वह सहज रूप में न तो बना रहता है न ही समाप्त हो पाता है। इसलिए यहां कारण और प्रभाव के बीच किसी माध्यम की सहायता की इच्छा, और ''*अविप्रनाशद्रव्य*'', *प्राप्ति*, मनोविज्ञान की धारा (संतान), *आलयविज्ञान* (*कुन ग्झी र्नम शेस*) की धारा (संतान) और ''विघटित सत्ता (असत)'' (*झिग पा द्नगोस पा*) जैसे विषयों को प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, जैसा कि अन्य धाराएं करती हैं ।

शाक्य पंडित और उनके अनुयायियों के अनुसार, मध्य मकावतार में चंद्रकीर्ति ने '*आलयविज्ञान*' को पूरी तरह से अस्वीकार नहीं कर दिया है। वास्तव में जिसका वह तर्क से खंडन करते हैं, वह है एक स्वभाव आलयविज्ञान, जिस पर योगाचारिन बल देते हैं। एक संवृति आलयविज्ञान को माध्यमिक भी स्वीकार करते हैं। वस्तुतः, अपने ग्रंथ बोधिचित्तविवरण में नागार्जुन ने आलयविज्ञान की अपनी मान्यता को मुखर होकर व्यक्त, किया है। तीन व्रतों के अपने विवेचन में शाक्य पंडित आठ विज्ञानों (अष्ट विज्ञानकायाह) को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं- सामन्यतः सर्वस्वीकृत छह विज्ञानों में जोड़े गए दो विज्ञान क्लिष्टमानस और आलय विज्ञान। महायानवादी होने के नाते, प्रासंगिक माध्यमिक न केवल आठ विज्ञानों को बल्कि तीन स्वभावों - परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न - को भी स्वीकार करते हैं। यह लंकावतारसूत्र के एक अवतरण के अनुरूप है, जो इस प्रकार है :

"पांच धर्म और तीन स्वसभाव,
आठ विज्ञान,
और दो निरहंक्रियाएं (नैरात्म्य/पारार्थ्यम)
इनमें निहित हैं महायान के सभी सिद्धांत।"

संवृति सत्य के स्तर पर स्वसंवेदन को प्रासंगिक माध्यमिक भी स्वीकार करते हैं। जिस स्वसंवेदन का मध्यमकावतार और अन्य ग्रंथों में खंडन किया गया है, वह स्पष्टतः वही स्वभाव आलयविज्ञान है, जिस पर एक सत स्मृति की सहायता से योगाचारी बल देते हैं।

अंत में, मुनिमतप्रकाश और अपनी अन्य कृतियों में, शाक्य पंडित स्वातंत्रिक माध्यमिक के शून्यता के परमार्थ सिद्धांत को प्रासंगिक

शाक्य पंडित कुंगा ग्योलत्सेन
साभार: http://rywiki.tsadra.org/index.php/lha_bla_ma_ye_ shes_%27od

के सिद्धांत से पृथक् नहीं करते। उनके अंतर कुछ संवृति तथ्यों की व्याख्याओं और परमार्थ शून्यता को सुनिश्चित करने की विधि में ही निहित हैं।

(2) *प्रमाणयुक्तिनिधि (त्शद मा रिग्स पा'इ ग्तेर)*

शाक्य पंडित का दूसरा अति महत्वपूर्ण ग्रंथ है प्रमाणयुक्तिनिधि, जो तिब्बत में बौद्ध प्रमाण की व्याख्या में एक महत्वपूर्ण क्रांतिकारी कदम सिद्ध हुआ। इसमें दो परस्पर संबद्ध कृतियां हैं : स्मारक सूत्र में रचित एक मूल ग्रंथ और लेखक की गद्य में रचित अपनी टीका। लेखक ने पहले तिब्बत के विद्वान ब्रत्सेग्स स्तोन द्बंग फ्युग सेंग गे के अधीन धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय का अध्ययन किया क्योंकि प्रमाणवार्त्तिक की शिक्षण परंपरा का चलन उस समय तक समाप्त हो चुका था। आगे चलकर कश्मीरी पंडित शाक्यश्रीभद्र और नेपाल तथा पूर्वी भारत के कुछ अन्य पंडितों ने शाक्य पंडित को प्रमाणवार्त्तिक और बौद्ध तर्कशास्त्र पर कई अन्य मूल ग्रंथों और उनकी टीकाओं की शिक्षा दी।

जब शाक्यश्रीभद्र पहले प्रमाणविनिश्चय पर धर्मोत्तर की टीका की शिक्षा दे रहे थे, तब शाक्य पंडित उस ग्रंथ के तिब्बती अनुवाद का प्रचार-प्रसार करते और उनकी व्याख्याओं (टीकाओं) को मनोयोग से सुना करते थे। बाद में, उन्होंने विषय वस्तुओं को संस्कृत में दोबारा सुनाकर अपने कश्मीरी गुरु और संगियों को अचंभित कर दिया। कहा जाता है कि उस समय उन्हों ने अपने भारतीय गुरु से पूछा कि वह 'अक्षोभ्य मात्र' ('मेयर ब्ल्यू'/आदर्श ज्ञान मात्र) को स्वीकार करते हैं या नहीं, जो क्षोभ्य (नॉन-ब्ल्यू) के विपरीत है। उन दिनों माना जाता था कि तत्कालीन तिब्बती तर्कशास्त्री इन *सामान्यों* को बहुत हद तक सत मानते थे। शाक्यश्रीभद्र ने अपने उत्तर में कहा कि उन्हें किसी 'सामान्य' का ज्ञान नहीं था, किंतु 'अक्षोभ्य (आदर्श ज्ञान)' यथार्थत: सत था। इससे शाक्य पंडित को *अपोह* के सभी कठिन विषयों का ज्ञान प्राप्त हुआ।

तदनंतर दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय और धर्मकीर्ति के तर्क विद्या विषयक सात ग्रंथों की सच्ची परंपरा की स्थापना और पूर्ववर्ती तिब्बती विद्वानों की नानाविध त्रुटियों और गलत अर्थ निरूपणों में सुधार के ध्येय से शाक्य पंडित ने अपने प्रमाणयुक्तिनिधि ग्रंथ की रचना की। तर्क विषय और मीमांसा पर लिखित इस पाठ्य पुस्तक का संभवत: आगे चलकर शाक्यश्रीभद्र के साथ कुछ भारतीय शिष्यों ने संस्कृत में अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त, तिरसठ वर्ष की आयु तक शाक्य पंडित अपने शिष्यों को प्रमाणवार्त्तिक की शिक्षा देते रहे, अर्थात् तिब्बत में अपने पूरे प्रवास काल तक। उनके इन सत्प्रयासों का ही फल था कि प्रमाणवार्त्तिक की शिक्षा पद्धति आज भी धूप की तरह अपनी द्युतिमान है।

रिग्स ग्तर के ग्यारह अध्याय

अपने महान ग्रंथ प्रमाण को शाक्य पंडित ने ग्यारह अध्यायों में विभाजित किया। पहले अध्याय में उन्होंने उद्देश्यों और उनके अलग-अलग व्यष्टित्वों के विभागों का वर्णन किया है। वह धर्मोत्तर और उनके अनुयायियों के उस दावे का खंडन करते हैं कि 'ग्राह्य विषय' और प्रतिमसविषय समानार्थी हैं और अध्यवसाय विषय तथा प्रवृत्ति विषय एक दूसरे के पर्याय हैं। वह स्पष्ट करते हैं कि स्वलक्षण स्वयं तीन विषय हो जाता है - प्रतिमसविषय, प्रवृत्ति विषय और अध्यवसाय विषय - उस आत्मबोध (सब्जेक्टिव कॉग्निशन) के अनुरूप जिसमें इस पर विचार किया जाता है। दूसरे अध्याय में वह उस अप्रामाणिक चैतन्य के पांच प्रकारों का खंडन करते हैं जिसका समर्थन तिब्बत के प्राचीन तर्कशास्त्री करते थे। दो अस्वीकृत प्रकार हैं 'यथातथ्य अनुमान' (करेक्ट एजंप्शन/यिद द्प्योद) और प्रत्यक्ष किंतु अनिश्चित' (ऐपियरिंग बट नॉट एसर्टेड/स्नंग ला मा न्गेस पा)। वह तर्क देते हैं कि यदि यथातथ्य अनुमान किसी यथातथ्य साक्ष्य के एक फल के रूप में प्रस्तुत किया जाए, तो यह अनुमानप्रमाण हो जाता है। यदि नहीं, तो यह असंप्रज्ञ चैतन्य (नॉन-कॉग्नाइजिंग कन्ससनेस) की कोटि में आ जाता है। 'प्रत्यक्ष किंतु अनिश्चित' (ऐपियरिंग बट नॉट एसर्टेड) चैतन्य (कन्सनेस) किसी भी तरह से अप्रामाणिक अभिज्ञान (नॉन-वैलिड कॉग्निशन) नहीं है। वस्तुत:, यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण (म्नगॉन सम त्शद मा) है। एक प्रत्यक्ष प्रमाण अप्रत्ययात्मक (नॉन-कॉन्सेप्चुअल) होता है और इसीलिए किसी विषय को अभिनिश्चित करने की आवश्यकता नहीं होती। तीसरे अध्याय में वह सामान्य और अपने समय के विद्वानों द्वारा स्वीकृत सत्ता के बीच संबंध का खंडन करते हैं। प्रत्यक्ष के प्रमाणवार्त्तिक के तीसरे अध्याय में वर्णित सामान्य के अनस्तित्व (नॉन-एंटिटी) के निर्धारण के आठ तर्कों (एट रीजनिंग्स) को वह अपने मत का आधार बनाते हैं। चौथे अध्याय में वह अपोह के विषय पर विचार करते हैं। जो अपोह को स्वलक्षणों में स्थान देते हैं वे गलत सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत, वह अपोह को मानस की कार्य-पद्धति की संकल्पना में स्थान देते हैं।

पांचवें अध्याय में वह शब्दों की निष्पत्तियों की जांच करते हैं और पाते हैं कि प्रत्ययात्मक दर्शन (कन्सेप्चुअल थॉट) की तरह शब्द भी अपोह के माध्यम से कार्य करते हैं। छठे और सातवें अध्याय में वह तार्किक संबंध ('ब्रेल बा) के विभिन्न रूपों और विरोध का वर्णन करते हैं और यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ये इंद्रियगम्य तथ्यों के आधार पर ही संभव हैं, परमार्थ मंडल (स्फेयर ऑफ दि एब्सॉल्यूट) में नहीं। आठवां अध्याय लक्ष्य की, परिभाषित शब्द लक्ष्य (म्शोन ब्या) की व्याख्याओं और इस प्रकार लक्ष्य के दृष्टांतों (इन्स्टैंसेज ऑफ दि टर्म सो डिफाइंड) को समर्पित

प्रतिमोक्ष अथवा विनय आधारित व्रत की पद्धति को श्रावक और महायान प्रतिमोक्ष के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। इन व्रतों को, जिनमें विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति (र्नम पा रिग ब्यिद मा यिन पा'इ ग्जुस) दोनों रूप शामिल हैं, विशेष रूप से प्रतिमोक्ष को, भौतिक पदार्थ मानने वाले वैभाषिकों के विचार प्रस्तुत करने के ध्येय से शाक्य पंडित यहां अभिधर्मोक्ष का उद्धरण देते हैं, क्योंकि वे शरीर और वाणी की क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं

है। यहां वह देवेंद्रबुद्धि, प्रज्ञाकरगुप्त, धर्मोत्तर, शंकरनंदन और उनके अनुयायियों की प्रमाण के लक्षणों की दो अलग-अलग रूपों में प्रस्तुति को लेकर उनका भी विरोध करते हैं। नौवें अध्याय में वह प्रत्यक्ष के विभिन्नो पक्षों का वर्णन और दसवें अध्याय में स्वार्थानुमान (रंग दोन जेंस द्पंग) के विभिन्न वर्गों पर विचार करते हैं। अंत में, ग्यारहवें अध्याय में वह बताते हैं कि विमर्श में शामिल व्यक्तियों के वर्गों तथा निग्रहस्थान (त्शर गेआद क्यि ग्नस) के वर्गीकरण समेत विमर्श में अनुमानों को किस प्रकार विधिवत रूप से अभिव्यक्त और उपयोग किया जाए।

(3) दि डिफरेंशिएशन ऑफ दि थ्री वाउज (स्दोम ग्सुम रब द्ब्ये)

शाक्य पंडित के तीसरे मुख्य ग्रंथ, उनका दि डिफरेंशिएशन ऑफ दि थ्री वाउज, जिस पर मैं यहां चर्चा करना चाहता हूं, में जिस प्रकार विवाद को स्थान दिया गया है, उस प्रकार उनके किसी भी अन्य ग्रंथ में नहीं। अप्रामाणिक अधिमिश्रणों को दूर करने और प्रामाणिक सिद्धांत को सुस्थापित करने हेतु बौद्ध धर्म के परिशुद्ध पर्यालोचन का यह एक उत्कृष्ट प्रयास है। ऐसा करने के लिए, शाक्य पंडित धार्मिक व्रतों की तीन पद्धतियों (प्रतिमोक्ष, बोधिसत्व और मंत्र) तथा उनके परस्पर संबंधों पर विचार करते हैं।

प्रतिमोक्ष अथवा विनय आधारित व्रत की पद्धति को श्रावक और महायान प्रतिमोक्ष के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। इन व्रतों को, जिनमें विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति (र्नम पा रिग ब्यिद मा यिन पा'इ ग्जुस) दोनों रूप शामिल हैं, विशेष रूप से प्रतिमोक्ष को, भौतिक पदार्थ मानने वाले वैभाषिकों के विचार प्रस्तुत करने के ध्येय से शाक्य पंडित यहां अभिधर्मोक्ष का उद्धरण देते हैं, क्योंकि वे शरीर और वाणी की क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं। अपने स्वरूप में भौतिक होने के कारण, वे मृत्यु होने पर समाप्त हो जाते हैं।

महायान परंपरा का अनुसरण करते हुए, शाक्य पंडित व्यक्तिगत स्तर पर सभी व्रतों को उनके स्वरूप में मानसिक कारकों के रूप में देखते हैं। कुछ टीकाकार इस बात पर बल देते हैं कि महायान पद्धति में भी सभी प्रतिमोक्ष व्रत नितांत रूप से 'स्वरूप' हैं, क्योंकि कोई व्यक्ति उनके प्रतिमोक्ष व्रतों को श्रावकयान धाराओं द्वारा प्रतिपादित समारोह के अनुरूप ग्रहण करता है। यह तर्क अस्वीकार्य प्रतीत होता है। यदि कोई इस तर्क का अनुसरण करे, तो उसे यह स्वीकार करना होगा कि बोधिसत्व का जो व्रत वह योगाचार पद्धति के समारोह में ग्रहण करता है, वह स्वाभाविक रूप से अस्तित्व में (इनहेरेंटली एग्जिस्टेंट) होता है, क्योंकि योगाचारिनों का यही मानना है। अलग-अलग धाराओं के चाहे जो भी अलग-अलग विचार हों, उनमें केवल एक विचार प्रामाणिक और यथार्थ के अनुरूप हो सकता है। इसके अतिरिक्त, महायानवादी अविज्ञप्ति रूप का अनुमोदन कभी नहीं करते।

श्रावक प्रतिमोक्ष की तुलना में, महायान प्रतिमोक्ष की व्याख्या सामान्य प्रतिमोक्ष (ऑर्डिनरी प्रतिमोक्ष) के साथ-साथ बोधि चित्त (सेम्स ब्स्क्यिड) के रूप में की गई है। यह उनके विचारों को खारिज करता है, जो जोर देकर कहते हैं कि प्रतिमोक्ष नितांत रूप से एक श्रावक है।

प्रतिमोक्ष के विपरीत, बोधिसत्व व्रत - मन से उत्पन्न, (बोर्न फ्रॉम माइंड) - किसी की संकल्प शक्ति, जो उसकी पूर्वापेक्षा होती है, के चलते अगले पुनर्भव में भी जारी रहता है और जिस विचार में यह निहित होता है, वह जब तक असफल नहीं हो जाता, तब तक बना रहता है। बोधिसत्व प्रतिमोक्ष व्रत धारण करता है किंतु जब स्थितियां उपयुक्त हों, तब दूसरों की सहायता के लिए यदि आवश्यकता हो तो इसे छोड़ने की अनुमति देता है। कर्म और कारण के संदर्भ में शाक्य पंडित आगे श्रावकों के प्रतिमोक्ष को बोधिसत्वों के प्रतिमोक्ष से अलग करते हैं। किसी खास कर्म के ऐसे कई दृष्टांत हैं जो श्रावकों के लिए पवित्र किंतु बोधिसत्वों के लिए अपवित्र होते हैं, वैसे ही जैसे किसी कर्म के कई दृष्टांत बोधिसत्वों के लिए पवित्र और श्रावकों के लिए अपवित्र होते हैं। यदि कोई बोधिसत्त्व श्रावक की तृष्णा (ऐस्पिरेशन) को प्रेरित करे, तो भले ही उसने युगों-युगों तक इसका अभ्यास किया हो, यह बोधिसत्त्व की का एक घोर उल्लंघन होगा। किंतु यदि उसके मन में दूसरों का हित हो, तो चार भिक्षु प्राजिक भी हितकारी और पवित्र हो जाते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रेम, करुणा आदि स्वभाव से हितकर होते हैं। यह निर्णायक धारणा नहीं है। अज्ञानियों के लिए, प्रेम और करुणा अधम पुनर्जन्म के कारक हो सकते हैं। करुणा को तभी हितकर माना जाता है जब उसका उपयोग बुद्धिमानी से, युक्तिपूर्वक किया जाए।

तांत्रिक व्रत की गूढ़ता के महत्व का ध्यान रखते हुए यहां उसकी चर्चा उचित नहीं है। संक्षेप में, प्रतिमोक्ष व्रत काया और वाणी की निंदनीय क्रियाओं को, बोधिसत्वा व्रत मानसिक स्तर पर निंदनीय क्रियाओं को और तांत्रिक व्रत स्वलक्षणों के मानसिक विभेदन को दूर करने के लिए आरंभ किए जाते हैं। व्रतों की प्रतिमोक्ष पद्धति का सत्त्व को दूसरों के लिए हानिकर नहीं होता, बोधिसत्त्व कि व्रतों की पद्धति का सत्त्व दूसरों के लिए हितकर होता है और तांत्रिक व्रतों के सत्त्व का अर्थ किसी के उपाश्य ईश्वर की क्रीड़ा और अध्यात्मविद्या (ग्नोंसिस) की क्रीड़ा के रूप में सभी प्रतीतियों का आनंद लेना है।

उपसंहार

ऊपर वर्णित बिंदु पाठकों को उन मुख्य विषयों का एक संक्षिप्त परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं, जिनमें शाक्य पंडित की अभिरुचि थी। इनमें से कुछ बिंदु सरल नहीं हैं और उन्होंने गौण कार्यों के एक अंबार को जन्म दिया जैसे शाक्य परंपरा में विद्वानों की टीकाएं, और अन्य धाराओं के परवर्ती विद्वानों की कुछ गंभीर प्रतिनिंदाएं भी। हालांकि, उनके उपदेशों को तिब्बत के परवर्ती धार्मिक विद्वत्त समुदाय की मुख्य धारा में स्थान मिल गया और परवर्ती काल के ही महान गुरु बू स्तो न रिन शेन ग्रब ने उनका समर्थन किया। किंतु शाक्य पंडित के ग्रंथों के प्रति लोगों का मत जो भी हो, इतना अवश्य है कि वे महत्वपूर्ण हैं। इस विचार को ध्यान में रखे बिना कोई व्यक्ति बौद्ध धर्म के विकास को समझ नहीं सकता, विशेष रूप से जिसका उल्लेख उन्होंने अपने तीन मुख्य सैद्धांतिक और दर्शन ग्रंथों में किया है।

साभार: द *टिबेट जर्नल*, खंड 13, अंक 1, बसंत 1988

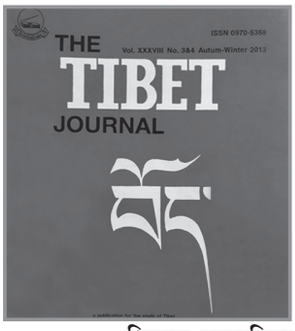

मध्य एशिया के लाम-रिम साहित्य के भारतीय स्रोत

भिक्खु पासादिक

लाम रिम साहित्य पंद्रहवीं शताब्दी में ग्रथों के जरिये दी गई व्यवस्था है। यह अतांत्रिक महायान का एक समग्र विश्लेषण और उसके लिए एक व्यवस्था प्रस्तुत करती है। बौद्ध सिद्धांतों की तिब्बती व्याख्या मुख्यत: इसी योजना का अनुसरण करती है। इसका मूल भारत में है

बौद्ध सिद्धांत की वर्तमान तिब्बती टीका बुद्धत्व के क्रमिक मार्ग का सुव्यवस्थित वृत्तांत प्रस्तुत करते हुए मुख्यत: लाम-रिम[1] योजना अथवा महायान/बोधिसत्वयान संश्लेषण का अनुसरण करती है। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, महामहिम चतुर्दश दलाई लामा के कनिष्ठ शिक्षक, स्वर्गीय त्रिजैंग रिनपोशे, जिन्होंने एक महत्वपूर्ण लाम रिम मैनुअल की रचना की, के साथ-साथ धर्मशाला में तिब्बती ग्रंथों के पुस्तकालय एवं लेखागार को भी हाल के वर्षों में मौलिक लाम-रिम सिद्धांतों की अंग्रेजी में बहुमूल्य पुस्तकें प्रकाशित करने का श्रेय दिया जा सकता है[2]।

इसमें कोई संदेह नहीं कि 15वीं शताब्दी के आरंभिक दिनों में रचित त्सोन-खा-पा का लाम रिम शेन मो तिब्बती लाम-रिम साहित्य का एक अति महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें तंत्रेतर महायान का एक ठोस विश्लेषण और क्रम-व्यवस्थापन प्रस्तुत किया गया है। एलेक्स वेमैन, जिनके लाम रिम शेन मो[3] के आंशिक अनुवाद के लिए हम ऋणी हैं, कहते हैं कि अपनी सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक लिखने से पहले, त्सोजन-खा-पा ने ''अतीश की लघु रचना बोधिपथप्रदीप को निर्वाण-स्थल के रूप में चुना, जिसमें नागार्जुन और असंग के विचारों को जोड़कर प्रस्तुंत किया गया है''[4]। अपनी पुस्तक तिब्बत, लैंड ऑफ स्नोज[5] में, जी टुची ने तिब्बती साहित्य का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक के पृष्ठ 197 पर वह कहते हैं कि लाम रिम शेन मो एक सर्वज्ञात भारतीय ग्रंथ अर्थात अभिसमयालंकार की पद्धति का अनुसरण करता है। किंतु, ए. वेमैन कहते हैं कि अपने लाम रिम शेन मो में त्सोन-खा-पा ने अभिसमयालंकार का उल्लेख बहुत कम किया है और यह कि वास्ताव में सर्वथा अलग-अलग पंक्तियों में इस महान कृति की संकल्पना की गई है[6]। किंतु, अभिसमयालंकार भी लाम रिम के, 'पथ के पगों' के दृष्टिकोण से लिखित एक ग्रंथ है[7], हालांकि, संक्षेप में, इस परवर्ती पद्यात्मक संक्षिप्त विवरण का तात्पर्य विशेष रूप से प्रज्ञापरमिता साहित्य का मूल आशय प्रस्तुत करना है। एक टिप्पणी में वेमैन आगे स्पष्ट करते हैं : "अभिसमयालंकार की चर्चा करते हुए, गियुसेप टुची, लघु बौद्ध ग्रंथ, भाग 2 (माइनर बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स, पार्ट 2) (रोम, 1958), पृ. 102, में कहते हैं कि मिलरस-पा के शिष्य 'स्गाम पो पा ने एक लाम रिम लिखा है, जिसमें त्सोन का पा के विपरीत इस ग्रंथ की अनदेखी की गई है। लाम रिम साहित्य में अक्सर अभिसमयालंकार की उपेक्षा दिखाई देती है और इसीलिए प्रज्ञापरमिता के इस प्रकार के अभ्यासों की व्याख्या की उपेक्षा कोई क्रमिक या प्रगामी पथ की उपेक्षा की बात नहीं है, जैसा कि टुची इस स्थल पर संकेत देते हैं। हम हर्बर्ट वी. गुएंथर में स्गाम-पो-पा की पुस्तक ज्युएल ऑर्नामेंट ऑफ लिबरेशन (लंदन, 1959) की विषयवस्तु का अनुशीलन कर सकते हैं। वस्तुत:, अपने लाम रिम शेन मो में त्सोड.-खा-पा ने इसी विषय को अपना अभिप्रेत बनाया है, किंतु वह प्रत्येक विषय के मर्म तक पहुंचे हैं[8]।"

इस संदर्भ में उन क्षेत्रों में जहां तिब्बती का उपयोग सार्वजनिक भाषा के रूप में होने लगा है, मध्य एशिया के धार्मिक इतिहास के लिए एक घटना अति महत्वपूर्ण है, अर्थात् ''काउंसिल ऑफ ल्हासा (ल्हासा परिषद) या कहें तो ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में ब्सम यस पर शास्त्रार्थ। इस ब्सम में ही तिब्बत के राजा ने निर्णय लिया

कि ह्व शाण के विचारों का अनुसरण नहीं किया जाए और यह कि इस हिमदेश में कमलशील के उपदेश एक आदर्श धर्मटीका का कार्य करें। जी. टुची की ऊपर वर्णित पुस्तक माइनर बुद्धिस्ट टेक्ट्स[9] में 'तिब्बती स्रोतों के अनुसार ब्सम यस पर विमर्श' उत्तरी भारत के मठ विश्वविद्यालयों की परंपरा के अनुरूप पूर्व एशियाई ध्यान अथवा चान विचारधारा के प्रतिनिधियों और भावनाकर्म सिद्धांत के आचार्यों के बीच विवाद का एक उत्कृष्ट वृत्तांनत है। जैसा कि कमलशील के तीन मार्गों, भावनाकर्मों, के शीर्षक से संकेत मिलता है, बुद्धत्व की प्राप्ति केवल किसी के तात्विक रूप से निश्छल मन की ज्योति अथवा हर व्यक्ति में निहित बुद्ध स्वभाव को समझ लेने मात्र से नहीं हो सकती। इसके विपरीत, बुद्धत्व की आशा (बोधिचित्तोत्पाद) बाद में बोधिसत्वयान की प्रगामी विधि का उपयोग कर की जा सकती है। प्रसंगवश (वैसे), चान या जेन का तथाकथित 'सहसापत्त प्रबोधन' (सडेन वे) कुछ हद तक भारतीय सिद्ध परंपरा का, और विमलकीर्तिनिर्देश जैसे अपेक्षाकृत एक अधिक प्राचीन ग्रंथ में प्रख्यापित कुछ खास उपदेशों का भी ऋणी है[10]। किंतु, 'सहसापत्त प्रबोधन' (सडेन एनलाइटेनमेंट) और 'इस जीवन' के भीतर अव्यकवहित मुक्ति के आग्रह की बजाय, कमलशील के सारांश में महायान को 'करुण, बोधिचित्ता और बोध' द्वारा प्रतीक के रूप में प्रस्तुरत किया गया है[11]। दूसरे शब्दों में, उपाय और प्रज्ञा में कौशल का संयुक्त रूप से उपयोग करना परम आवश्यक है, इसलिए महाबोधि का अनुसरण करने के मार्ग को नियमित होना चाहिए। निष्पक्षता के लिए यहां इस पर बल दिया जाना चाहिए कि जेन बौद्ध धर्म में, जैसा कि इन दिनों देखा जा सकता है, नैतिकता (धर्माचरण), उपाय में कौशल अथवा बोधिसत्वचर्या के लिए बहुत कुछ लिखा नहीं गया बल्कि उसे प्राप्ति माना गया है।

साहित्य की उस शैली के भारतीय मूलरूप, जिसका तिब्बतियों ने अपने लाम-रिम प्रबंधों में विकास किया, पर विमर्श करते समय, पहले बोधिचर्यावतार 5, वीवी. 105-106 में निहित समस्या का मूल्यांकन करना चाहिए, जहां एक सूत्र समुच्चय और म्दो कुन लस ब्तुस पा के संकलनकर्ता नागार्जुन, जिन्हें तिब्बती परंपरा में मूलमध्यमकाकरिकास के लेखक के समान माना गया है, का उल्लेख किया गया है। ए. पेज्जलि ने ऊपर वर्णित पद्य रचनाओं पर कतिपय विद्वानों की टीकाओं का संग्रह किया है[12], और दि लिटरेचर ऑफ मध्यमक स्कूल ऑफ फिलॉसफी इन इंडिया[13] में डी. सीफोर्ट रुएग्ग ने भी बोधिचर्यावतार में प्रसिद्ध पद्य रचनाओं के साथ-साथ म्दो कुन लस ब्तुस पा और इस पर की गई टीकओं का उल्लेख किया है -- एक दीपंकर श्रीज्ञान की और एक अपेक्षाकृत लंबी रत्नाकरशांति की। पेज्जलि ने अपनी पुस्तक शांतिदेव ए इल बोधिचर्यावतार[14] में पुनः उन पद्य रचनाओं का उल्लेख किया है। उनका मानना है कि नागार्जुन ने निश्चय ही एक सूत्र समुच्चय की रचना की है, जो तिब्बती और चीनी अनुवादों में संरक्षित पद्य संग्रह है। किंतु, एक दूसरे सूत्र समुच्चय को शांतिदेव से जोड़ने के भारतीय टीकाकारों और तिब्बती इतिहासकारों के कार्य को भ्रामक मानने के ये कोई ठोस कारण नहीं हैं। जैसा कि हम मध्यमकशास्त्रस्तुति[15] में पढ़ते हैं, चंद्रकीर्ति माध्यमिक धारा सूत्र समुच्चय (नीचे सूसं के संक्षिप्त रूप में उल्लिखित) को ऊपर वर्णित 'उपदेश संग्रह (के उद्धरण)' का संस्थापक मानते हैं, और उनका यह मानना अति महत्वपूर्ण है। जहां तक शांतिदेव को दूसरे सूसं का श्रेय देने की बात है, अपने 'ला लिजेंडे दे शांतिदेव'[16] में जे. डब्ल्यू. दे जोंग ने इसे म्दो स्दे स्न त्शॉग्स क्यि म्दो ब्तुस पा अथवा विश्वसूत्रसमुच्च्य से जोड़ने का सुझाव दिया है। मैंने 'प्रोलेगोमेना टु एन इंग्लिश ट्रांसलेशन ऑफ दि सूत्रसमुच्चय'' (नीचे पी के संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत)[17] में और ए. पेज्जलि के पूर्वोल्लिखित बोधिचर्यावतार के इतालवी अनुवाद की अपनी समीक्षा[18] में ऊपर वर्णित विद्वानों के अवलोकनों का उल्लेख किया है ताकि मुझे विस्तार में जाने की जरूरत न हो।

पी में मैंने यह बताने का प्रयास किया है कि नागार्जुन के सूसं को लाम-रिम के परवर्ती प्रबंधों का भारतीय मूलरूप माना जा सकता है। नीचे प्रस्तुत अंश में ब्स्तान-'ग्युर' से प्राप्त हमारे संग्रह की टीकाओं की सहायता से अपने आलेख(पी) में मैं सुधार करूंगा और आशा करता हूं कि सूसं के प्रति कुछ नवीन जानकारी जोड़ पाऊंगा।

ई. लामोटे[19] के अनुसार चार नागार्जुन संभवतः एक दूसरे से भिन्न थे, और क्योंकि सूसं में तुलनात्मक दृष्टि से 'बाद' के मूलग्रंथों के उद्धरण हैं, जैसे श्रीमालासिंहनादसूत्र से अथवा तथागतगर्भ के एक उद्धरण के साथ परवर्ती लंकावतार से, इसलिए कई विद्वान यह स्वीकार नहीं कर सकते कि मूलमध्यमककरिकास के लेखक ने ही सूसं का संग्रह किया। वेमैन[20] कहते हैं कि ''श्री-माला को प्रज्ञापारमिता-सूत्र नामक पूर्ववर्ती मूलग्रंथ जैसे ग्रंथों के लगभग तत्काल बाद रचित माना जा सकता है, जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण लगभग 100 ईसा पूर्व से सन् 200 ई. के बीच लिखे गए, जैसे आष्टसाहस्रिका।'' किंतु, उनके अनुसार, लंकावतार ईसवी सन् की चौथी शताब्दी की एक कृति है। जिकिदो ताकासाकी का मानना है कि तथागतगर्भ सिद्धांत का उपदेश देने वाले सूत्र, जैसे अन्य विषयों में श्रीमालाशास्त्र और लंकावतार, ''संभवतः नागार्जुन और आर्यदेव को ज्ञात नहीं थे[21]।'' अथवा और भी स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि परवर्ती विद्वानों के अनुसार, नागार्जुन को तथागतगर्भ सिद्धांत का ज्ञान नहीं था[22]। इसके विपरीत, पी लिखते समय, मुझे स्मरण हो आया कि

पेज्जलि ने अपनी पुस्तक शांतिदेव ए इल बोधिचर्यावतार में पुनः उन पद्य रचनाओं का उल्लेख किया है। उनका मानना है कि नागार्जुन ने निश्चय ही एक सूत्र समुच्चय की रचना की है, जो तिब्बती और चीनी अनुवादों में संरक्षित पद्य संग्रह है। किंतु, एक दूसरे सूत्र समुच्चय को शांतिदेव से जोड़ने के भारतीय टीकाकारों और तिब्बती इतिहासकारों के कार्य को भ्रामक मानने के ये कोई ठोस कारण नहीं हैं

बहुत पहले अपने चतु:शतक संस्करण की पादटिप्पणी में विधुशेखर भट्टाचार्य ने लिखा था कि आर्यदेव को लंकावतार के एक बीजीय रूप का ज्ञान अवश्य था[23]।

हाल में इस नागार्जुन के माध्यम से सी. लिंड्टनर ने नागार्जुन के लेखन और दर्शन के हमारे ज्ञान में एक महती योगदान किया है[24]। अपनी पुस्तक में सी. लिंड्टनर ने नागार्जुन की 'लघु' कृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण और नागार्जुन के मूलग्रंथों की प्रामाणिकता के प्रश्नों पर सावधानीपूर्वक विचार किया है, जैसे उन ग्रंथों पर जिनका श्रेय मूलमध्यमकारिका के लेखक को दिया जाना चाहिए। उस संग्रह की एक विषय-सूची के साथ-साथ उसमें निहित सभी उद्धरणों की एक सूची देते हुए, लिंड्टनर ने सूसं का संशोधन भी किया है[25]। कुल मिलाकर उनकी उद्धरणों की सूची पी में प्रकाशित मेरी सूची के समान है, कुछ अज्ञात पुस्तकों के अतिरिक्त जिनका अलग-अलग ढंग से संस्कृत में पुनरानुवाद किया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सूत्र ग्रंथों का हमारा संशोधन संदेहों से पूरी तरह से मुक्त नहीं हो सकता। बल्कि इंडियन हिस्टॉरिकल क्वाटर्ली[26] में सूसं के उद्धरणों की ए. सी. बनर्जी की सूची त्रुटिपूर्ण और अपूर्ण है। इससे बचने के लिए वह नार्थैंग के संस्करण की सहायता ले सकते थे। किंतु, सूसं के नार्थैंग के मूलग्रंथ को दर्जे अथवा पेकिंग संस्करणों से मिलाकर न देखा जाए, तो कई स्थलों पर यह पढ़ा नहीं जा सकता। सूसं को लिंड्टनर महायान के सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक की एक सच्ची कृति मानते हैं। लिंड्टनर लिखते हैं, ''कोई यह अपेक्षा कर सकता है कि नागार्जुन को महायान के सूत्रों का एक प्रामाणिक संकलन प्रस्तुत करने की आवश्यकता महसूस होनी चाहिए थी, केवल इसलिए नहीं कि वह स्वयं उस धारा के प्राचीनतम और निश्चित रूप से सर्वश्रेष्ठ व्याख्याताओं में से एक हैं, बल्कि, जैसा कि हम रत्नावली, 4, 67-6 में पाते हैं, इसलिए भी कि उनके समय में महायान को विभिन्न खेमों की घोर आलोचना का सामना भी करना पड़ा था, जिनमें, ऐसा प्रतीत होता है, 'परंपरावादी' श्रावक सर्वोपरि थे[27]।''

लिंड्टनर की पुस्तक की अपनी समीक्षा[28] में मैंने कहा है कि उनकी पुस्तक की

अपनी पुस्तक में सी. लिंड्टनर ने नागार्जुन की 'लघु' कृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण और नागार्जुन के मूलग्रंथों की प्रामाणिकता के प्रश्नों पर सावधानीपूर्वक विचार किया है, जैसे उन ग्रंथों पर जिनका श्रेय मूलमध्यमकारिका के लेखक को दिया जाना चाहिए। उस संग्रह की एक विषय-सूची के साथ-साथ उसमें निहित सभी उद्धरणों की एक सूची देते हुए, लिंड्टनर ने सूसं का संशोधन भी किया है

विशेषताओं में से एक यह है कि उन्होंने निर्णायक रूप से बता दिया है कि वस्तुत: नागार्जुन को लंकावतार (मूलग्रंथ में बाद में जोड़ी गई विषय-वस्तु को हटाकर) का ज्ञान था। लिंड्टनर ने लंकावतार से नागार्जुन के अवगत होने के प्रमाण प्रस्तुत किए हैं, जैसा कि नागार्जुन के दार्शनिक ग्रंथ के कुछ अवतरणों में देखा जा सकता है। हमारे प्रयोजन के लिए यहां मूलमध्यमकारिका 17, 33 का केवल एक उदाहरण पर्याप्त है:

क्लेश: कर्मणि देहाश च कर्ताराश च फलानि च।
गंधर्वनगराकारा मरीचि-स्वमप्नश-सम्निभ:।।

लंकावतार में गाथा, सगाथकम 279 लगभग समान है:

क्लेवश: हर्मपथा देह: हर्तारश्च फलम् च वै।
मरीचि-स्वथप्नह-संकाशा गंधर्वनगरोपमा:।।

अपने नागार्जुन के पृ. 17 पर, सूसं और नागार्जुन के चतु:स्तव, अर्थात निरौपम्यतस्तव, 22 में प्रस्तुत एक 'प्रत्यक्ष सकारात्मक सत्ता मीमांसा' के अन्य विवरणों के बीच लिंड्टनर ने तथागतगर्भ का उल्लेख किया है। इस संदर्भ में और अर्ध-कर्मकांडवादी विवरणों के प्रति लिंड्टनर कहते हैं : ''... मेरी समझ से हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते हैं कि सत्वावतरता: के ध्येय से...नागार्जुन ने इस स्तोत्र संवृतित:, अथवा नेयार्थ की रचना की...''[29]।

नागार्जुन का ''उपदेश संग्रह (के उद्धरण) (एंथॉलॉजी ऑफ (क्वोटेशंस फ्रॉम) डिस्कोर्स)'' का निम्नलिखित आधुनिक भाषाओं में अनुवाद हुआ है : तिच ह्युएन-वी द्वारा सूसं का चीनी से वियतनामी में, और साथ-साथ मेरे द्वारा तिब्बती से अंग्रेजी में[30]। संग्रह के 11 मूल विषयों की संख्या प्रस्तुत करते हुए पी में मैंने सूसं की संरचना का संकेत दिया है। लिंड्टनर ने ऊपर वर्णित विषय-सूची में यही कार्य अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से किया है। आगे मैं सूत्रसमुच्चय-संचयार्थ शीर्षक सूसं पर एशिया की टीकाओं के कुछ उद्धरण प्रस्तुत करने जा रहा हूं[31], जिनकी सहायता से, आशा है, म्दो कुन लस ब्तुस पा पर कुछ और प्रकाश डाला जा सकता है।

अतीश ने लगभग 70 ग्रंथों को शामिल किया है, जिनसे एक सप्तक के अंतर्गत कुल 174 उद्धरणों का चयन किया गया है : ''जहां तक सूसं के, आचार्य नागार्जुन द्वारा संग्रहीत इस रत्नसम ग्रंथ (कथा) के अर्थ का संबंध है, यह 7 प्रकार के प्रवचनों (उपदेशों) के एक विवरण (संग्रह) में निहित है...जैसे

(1) र्तेन दल ''ब्योर ग्यी म्दो/आश्रय-क्षणसम्पत-सूत्र, आधार (धर्माचरण का, अर्थात् एक बुद्ध का अवतरण और मनुष्य रूप में जन्म) और एक अनुकूल पुनर्जन्म के लाभ से संबद्ध उपदेश
(2) ग्जी दद पा'ई म्दो/अधिष्ठान-शारदा-सूत्र, आधार (सभी धर्माचरण का) के रूप में आत्मविश्वास/आस्था से संबद्ध उपदेश -
(3) र्त्स बा ब्यां चब क्यी सेम्स क्यी म्दो/मूल-बोधिचित्त-सूत्र, स्रोतों (महायान के) से संबद्ध उपदेश : बुद्धत्व के बाद की अभिलाषा (और अत्यधिक संवेदना)
(4) क्र्येन बर चड ब्सल बा'इ म्दो/कारण-अंतरायिका (धर्म)- विनोदन-सूत्र, बाधक स्थितियों और उनके कारणों के अपनयन से संबद्ध उपदेश
(5) स्प्रब पा नन तन स्निन पोर ब्या बा'इ म्दो/निष्पत्ति-प्रतिपत्तिश्रसूत्र, आचरण और कार्यसिद्धि (संपूर्ण निर्वाण की) में दृढ़ता से संबद्ध उपदेश ---
(6) ब्लो थेग पा ग्सिग तु ब्यं- बा'इ

म्दो/एकयान-निपुण-बुद्धि-सूत्र, एकयान (ऐक्य) पर सूक्ष्म विचारों से संबद्ध उपदेश

(7) लाम चे बा यॉन तन ग्यिस ब्रॉद पा'इ म्दो/अधिकमार्ग-गुण-यात्रा-सूत्र, बुद्ध (बुद्धों) और बोधिसत्व के उच्चतर मार्ग की ओर प्रयाण से संबद्ध उपदेश

हो सकता है कि सूसं की संरचना हमें पूर्णत: सुव्यवस्थित प्रतीत न हो। उदाहरण के लिए, म्दो कुन लस ब्तुस पा का 8वां विचार-बिंदु पहले एक गृहस्थ-बोधिसत्तव के उत्तम गुणों का निर्धारण करते हुए 'गृहस्थों के यथार्थ धर्माचरण' के बाद ही सामान्य पृथ्वीवासी से संबद्ध 'अशुद्ध आचरण, हत्या की बुराई, आदि' की बात करता है। अथवा, सूसं के 9वें विचार-बिंदु में "उन प्राणियों की अत्यधिक दुर्लभता पर चिंता की गई है, जो सही अर्थों में और दृढ़तापूर्वक तथागतों के संपूर्ण निर्वाण के प्रति समर्पित हैं।" इस खंड में नागार्जुन के अधिकांश उद्धरणों में उस सर्वोच्च गुण का वर्णन मिलता है, जो, परम सत्य के स्तर पर, यथार्थ में, बोधिसत्वयान और सत्ववतारत: के दृष्टिकोण से एक परिवंचना है। किंतु, नागार्जुन एक मूल श्रावकयान सिद्धांत ग्रंथ से, संयुक्तागम से भी उद्धरण प्रस्तुत करते हैं : "मैं आपका ध्यान मठाधीशों, निर्वाण और उसके मार्ग के प्रति आकृष्ट करना चाहता हूं। तो, निर्वाण क्या है? वह है : करुणा, विरक्ति, और माया पर नियंत्रण। और निर्वाण की ओर ले जाने वाला मार्ग कौन-सा है? यह ठीक-ठीक इस प्रकार है : पावन अष्टमार्ग[32]।'' सूसं का एक अन्य उद्धरण अति रोचक है जो माहाकरुणापुंडरीक सूत्र की परोक्ष रूप से आलोचना करता है : ''हे ब्राह्मण, इस प्रकार इससे प्रमाणित होता है कि इस विश्व के कर्म का, मानसिक दूषण का और कष्ट का अंत, कि कष्ट को दूर कर, उसका अंत कर उसका निराकरण करना, और यह कि उसकी संपूर्ण रूप से समाप्ति ही अंतिम निर्वाण है। किंतु, ब्राह्मण, उस स्थिति में कर्म का अंत और मानसिक कलुष से मुक्ति कुछ और नहीं बल्कि नित्यता (निवृत्ति) है और किसी तरह भी निर्वाण नही[33]।''

मेरी समझ से यहां यह उल्लेख समीचीन है कि सूसं के संकलनकर्ता ने धर्म आचरणों का परोक्षत: तीन रूपों में वर्गीकरण कर दिया है - अधम, मध्यम और श्रेष्ठतर[34]। अर्थात यह वह स्थिति है जिसकी पुष्टि अतीश ने की है, जब वह सूसं पर अपनी टीका में, बोधिचित्त का पोषण करने का आग्रह करते हैं, बुद्ध की बोधि प्राप्त करने की कामना करने वाले मध्यम अथवा लघु क्षेत्र के भी कौन से लोग इसे प्राप्त नहीं कर सकते। यहां 'मध्यम' और 'लघु क्षेत्र' के लिए यथार्थत: क्रमश: श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और लौकिक शब्दों का प्रयोग किया गया है[35]। लघुतर के लिए अतीश ने एक अन्य शब्दावली लस दन पो पा आदिकर्मिका का प्रयोग किया है। यदि वे बुद्ध की उदात्ता और असाधारण अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं, तो उन्हें सूसं में निधरित उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिसका वर्णन अतीश महायान-समुच्चय-सूत्र (शिण र्त शेन पोस ब्सदस पा'इ म्दो) के रूप में करते हैं, मध्यम होना, 'न तो बहुत बड़ा न बहुत छोटा'[36]।

सूत्रसमुच्चय-संचयार्थ के फोलियो 396बी1एफएफ पर हमें गो रिम/अनुक्रम, 'सम्यक् क्रम' शब्द मिलता है, जिसका प्रयोग यहां बोधिसत्व की चर्या के इच्छुक व्यक्ति हेतु प्रतिपत्ति (रिग्स पा) के तीन रूपों के लिए किया गया है, अर्थात क) बीज के प्रति जो किया जाना चाहिए उसे पूरा करना। यहां अतीश के अनुसार 'बीज' का अर्थ किसी बोधिसत्व का आरंभिक धर्माचरण है जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रद्धा, बुद्धत्व की इच्छा और असीम करुणा। ख) मध्यवर्ती धर्माचरण का अर्थ बाधक स्थितियों को दूर करने, आचरण में दृढ़ता लाने और एकयान के अर्थ की समुचित समझ (परमार्थत:) समेत कार्यसिद्धि के प्रति आग्रह है। ग) प्रतिपत्ति औचित्य (धर्मता) के आलोक में एक बोधिसत्त्व की चर्या, अर्थात् सर्व ज्ञान और बुद्धत्व का परम फल प्राप्त करने का अंतिम धर्माचरण है।

बोधिपथप्रदीप में अतीश यथार्थत: धर्म गुणियों के तीन रूपों की व्याख्याक करते हैं। अधम स्वार्थवश इस विश्व के सुख में अपने लक्ष्य की खोज में रहते हैं; मध्यम जागतिक सुखों का त्याग और समस्त मानसिक विकृतियों के निवारण का प्रयास करते हैं, किंतु ऐसा वे केवल अपने मोक्ष के लिए करते हैं; उत्तम सभी चेतन प्राणियों के कष्ट को दूर करना चाहते हैं[37]। लाम रिम शेन मो के अपने अनुवाद में, बोधिपथप्रदीप का संदर्भ देते हुए वेमैन लिखते हैं : 'लोगों की तीन श्रेणियों की शब्दालवली बहुत संभव है कि असंग की उनकी तीसरी, चौथी और पांचवीं भूमियों पर उनकी विनिश्चयसंग्रहणी के एक अपेक्षाकृत विस्तृत खंड से ली गई हो...[38]।' किंतु, मुझे आशा है कि मैंने उल्लेख किया है कि 'तीन क्षेत्रों' के लोगों के सिद्धांत की मूलभूत संरचना बहुत पहले नागार्जुन के सूसं में देखी जा सकती है।

लाम-रिम साहित्य के भारतीय स्रोतों पर विमर्श करते समय, रत्नाकरशांति के सूत्रसमुच्चयभाष्य-रत्नालोकालंकार का उल्लेख भी किया जाना चाहिए...[39]। डी. सीफोर्ट रुएग ने इस भाष्य का संक्षेप में वर्णन किया है ''जिसमें नागार्जुन और असंग के उपदेशों से ली गई व्याख्याओं के साथ-साथ महायानवादी सिद्धांत के कई प्रधान विषयों पर धर्मवैधानिक सूत्रों के सार तत्व समाविष्ट हैं...[40]''। सीफोर्ट रुएग ने दीपंकरश्रीज्ञान के शिक्षकों में से एक के समकालीन रत्नाकरशांति (लगभग 1000 ई.) द्वारा विकसित नागार्जुन के मध्यमक दर्शनशास्त्र के तत्वों के साथ मैत्रेयनाथ और असंग के विज्ञानवाद के संश्लेषण पर बहुत ही उपयोगी जानकारियां उपलब्ध कराई हैं[41]। ''विज्ञप्ति-मध्यमक'' के एक संश्लेषण ('फ्गास पा क्लू सग्रब दण 'फ्गास पा थॉग्स

लघुतर के लिए अतीश ने एक अन्य शब्दावली लस दन पो पा आदिकर्मिका का प्रयोग किया है। यदि वे बुद्ध की उदात्ता और असाधारण अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं, तो उन्हें सूसं में निर्धारित उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिसका वर्णन अतीश महायान-समुच्चय-सूत्र (शिण र्त शेन पोस ब्सदस पा'इ म्दो) के रूप में करते हैं, मध्यम होना, न तो बहुत बड़ा न बहुत छोटा

मेड क्यिस ग्सुणस पा दग नि म्थुन पा निद/ अनुकूलता)[42] पर केंद्रित रत्नाकरशांति के प्रयास उनके सूसं के भाष्य में भी सुस्पष्ट रूप से सामने आए हैं। उन्होंने सूत्रों के किसी सप्तक का संदर्भ नहीं दिया है, जैसा कि अतीश के भाष्य में आया है; वह सूसं के 11 विषयों का उल्लेख करते हैं और नागार्जुन के संग्रह के विधान के बाद लंकावतार, प्रज्ञापारमिता ग्रंथों, धर्मसंगीतिसूत्र, उपायकौशल्यसूत्र, नागार्जुन की कृतियों अथवा असंग की बोधिसत्त्विभूमि आदि से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए आंशिक रूप से अपनी व्याख्याओं को सत्य सिद्ध करते हैं। अपने भाष्य के अंत में, रत्नाकरशांति ने अपनी कृति के छंदबद्ध सार का एक रूप संलग्न किया है। ये गाथाएं सूसं के एक सार का बहुत निरूपण नहीं, बल्कि लेखक के ऊपर वर्णित 'विज्ञप्ति-मध्यमक' संश्लेषण का एक भावार्थ प्रस्तुत करती हैं। यह सारांश आर्यदेव के चतु:शतक, अध्याय 8, खंड 15[43] से अत्यधिक मिलती एक गाथा के साथ आरंभ होता है। हालांकि श्रावकयान और महायान में भेद करते समय विस्तार से आरंभ करते हुए, सुसं की अपनी टीका में रत्नाकरशांति तीन प्रकार के धर्म गुणियों का संदर्भ देते प्रतीत नहीं होते, जैसी कि अतीश ने व्याख्या की है। रत्नाकरशांति की अति विस्तृत कृति के कम से कम उन अंशों पर शोध होना चाहिए, जो दर्शन के दृष्टिकोण से सर्वाधिक अप्रतिरोध्य हैं।

मुझे सूसं के महत्व पर एक बार फिर लिंड्टनर का उद्धरण देते हुए समाप्त करने की अनुमति दें : ''कुल मिलाकर सूसं कम से कम दो कारणों से एक अति महत्वपूर्ण प्रलेख है। पहला, महायान ग्रंथों के प्रचुर मात्रा में ये अति प्राचीन उद्धरण इसे एक ऐतिहासिक महत्व प्रदान करते हैं, जिन पर भविष्य में इन सूत्रों के अनुवादकों और संपादकों को निश्चय ही ध्यान रखना होगा। दूसरा, सूसं में सुस्पष्ट रूप से उल्लिखित धार्मिक धारणाएं लेखक को समझने में हमारी पर्याप्त सहायता करती हैं।[44]''

साभार: द *टिबेट जर्नल*, खंड 13, अंक 1, बसंत 1988

संदर्भ

1. *सा. लाम-गति, प्रतिपाद, मार्ग; रिम-क्रम।*
2. *देखें उदाहरण के लिए न्गावांग धार्ग्येय, टिबेटन ट्रेडिशन ऑफ मेंटल डेवलपमेंट (धर्मशाला 1974)।*
3. *ए. वेमैन, क्लेमिंग दि माईड एंड डिसर्निंग दि रीयल कोलंबिया विश्वविद्यालय प्रेस (न्यू यॉर्क 1978); पुनर्मुद्रण : मोतीलाल बनारसीदास (दिल्ली 1979)।*
4. *यथा उद्धृत से लिया गया, पृ. 22।*
5. *पॉल एलेक लि. 1967; द्वितीय संस्करण : आइ. जी. डी. ए., नोवरा, ऑफिसीन ग्रैफिशे (इटली) 1973।*
6. *यथा उद्धृत, पृ. 7।*
7. *वही।*
8. *यथा उद्धृत, पृ. 435-36।*
9. *पुनर्मुद्रण, रिन्सेन बुक कं. लि. क्योटो 1978।*
10. *तुलना, भिक्खु पासादिक, दि जर्नल ऑफ रेलिजिस स्टडीज खंड 4 अंक 1 में ''सम रिमार्क्स ऑन दि ऑरिजिन ऑफ दि जेन स्कूल''; पटियाला 1972; भ. पा. भी। 'दि विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र एंड तंत्र', जगज्योति, ए बुद्ध जयंती एन्युअल, कोलकाता 1976।*
11. *तुलना, जी. टुची माइनर बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स भाग 2 पृ. 157।*
12. *तुलना, ए. पेज्जलि शांतिदेव - मिस्टीक बुद्धिस्टेबुद्धिस्टे देस 7 एट 8 सीक्लेटस (फ्लोरेंस : वैलेच्ची एदितोरे 1968) पृ. 80 और अगले पृष्ठों पर।*
13. *हर्रस्सोविट्ज द्वारा प्रकाशित, वीजबादेन 1981; तुलना, पूर्व उद्धृत पृ. 29। 84, 113, 114, 124।*
14. *एडिट्रिस द्वारा प्रकाशित मिशनारिया इटालियाना, बोलोना 1982; तुलना, पूर्व उद्धृत, पृ. 33-34।*
15. *तुलना, जे. डब्ल्यू. दे जोंग, 'ला मध्यमकशास्त्रस्तुति', ओरिएंस एक्स्ट्रिमस, 1962, 9, हेफ्ट 1, पृ. 48, 51, 53, 55। इस कृति के एक पुनर्मुद्रण के लिए देखें बुद्धिस्ट स्टडीज, लेखक जे. डब्ल्यू. दे जोंग, सं. जी शोपेन; बर्कले : एशियन ह्युमेनिटीज प्रेस, 1979 - तुलना, पृ. 542, 545, 547, 549।*
16. *आइआइजे, 26, 3, 1975 में प्रकाशित और बुद्धिस्ट स्टडीज, लेखक जे. डब्ल्यू. दे जोंग में पुनर्मुद्रित; तुलना, पृ. क्रमश: 182, 140।*
17. *दि जर्नल ऑफ दि इंटरनेशनल एसोसिएशन ऑफ बुद्धिस्टि स्टडीज में प्रकाशित, मैडिसन, 1982 - तुलना, पृ. 101, 102।*
18. *तुलना, दि तिब्बत जर्नल, खंड 8, अंक 2, धर्मशाला 1983, पृ. 62, और दि जर्नल ऑफ रेलिजियस स्टडीज, खंड 11, अंक 1 और 2, पटियाला 1983, पृ. 125-126।*
19. *तुलना, ई. लामोटे, ले ट्रेटे दे ला ग्रांडे यर्तु दे सागेसे (म्युजियॉन 1944/ लू एन-ला-न्यूवे 1981), पृ. 11, और एशियाटिका (फेस्टश्रिफ्ट वेलर), पृ. 388। डी. सीफोर्ट रुएग भी देखें, 'ले धर्मधातुस्तव दे नागार्जुन', एत्युदेस तिबेतेनेस देदिएस ए ला मेम्वॉयरे दे मार्सेले ललू (मैसोन्यूवे, पैरिस 1971)। 0. 452-453।*
20. *एलेक्स एवं हिदेको वेमैन, दि लायन्स रोर ऑफ क्वीन श्रीमाला (कोलंबिया विश्वविद्यालय प्रेस, न्यूयॉर्क और लंदन 1974, पृ. 1।*
21. *तुलना, जिकिदो तकासाकी, 'सोर्स ऑफ दि लंकावतरार एंड इट्स पोजिशन इन महायान बुद्धिज्म', इंडोलॉजिकल एंड बुद्धिस्टि स्टीडीज (प्रो. जे. डब्ल्यू. दे जोंग सम्मान खंड) सं. एल. ए. हर्कस एवं अन्य। (दि ऑस्ट्रेलियन नेशनल यूनिवर्सिटी, कैनबरा 198), पृ. 545।*
22. *वही।*
23. *तुलना, वी. भट्टाचार्य, दि चतु:शतक ऑफ आर्यदेव (विश्व-भारती बुक-शॉप, कोलकाता 1931), पृ. 60, 197, 198।*
24. *सी. लिंड्टनर, नागार्जुन, स्टडीज इन दि राइटिंग्स एंड फिलॉसॉफी ऑफ*

नागार्जुन; इनडिस्के, स्टडियर 4, अकादेमिस्क फोर्लाग, कोपेनहेगेन 1982।

25. यथा उद्धृत, पृ. 172-178।

26. यथा उद्धृत, खंड 17, अंक 1 (मार्च 194), पृ. 121-126।

27. यथा उद्धृत, पृ. 172।

28. दि तिब्बत जर्नल में प्रकाशित, खंड 8, अंक 2, धर्मशाला, समर 1983 (पृ. 58-61)।

29. वही, पृ. 17।

30. सभी 3 अनुवाद किश्तों में प्रकाशित, लिन्ह-सोन पब्लिकेशन द'एत्यूदेस बैद्धोलोजिक्वेस, अंक 2-20, इन्स्टिट्यूट दे रिशर्चे बौद्धिके लिन-सोन जॉइनविले-ले-पोंट (पैरिस) 1978-1982। आगे पुस्तक में प्रकाशन हेतु इन अनुवादों का संशोधन किया जा रहा है। मैं सूसं के तिब्बती मूलग्रंथ का एक आलोचनात्मक संस्करण भी तैयार कर रहा हूं।

31. तुलना, ब्स्तान- 'ग्युर द्वऊ-मा ए 395ए4-397बी6 - पेकिंग संस्करण पुनर्मुद्रण। टोक्यो-क्योटो 1958, अंक 5333 खंड 102 पृ. 170-171।

32. लिन्ह-सोन, पब्लिकेशन द'एत्यूदेस बौद्धोलोजिक्वेस अंक 13 पृ. 42, 47 (पालि समांतरकों की प्रस्तुति) (पैरिस 1980)।

33. बोधिपथप्रदीप के एक अंग्रेजी अनुवाद के लिए, देखें ए. वेमैन, कामिंग दि माइंड एंड डिस्सर्निंग दि रीयल, पृ. 9-14। डी. सीफोर्ट रुएग भी उल्लेख करते हैं : अ) जे. वान देन ब्रोएक द्वारा एक फ्रेंच अनुवाद, ब) एच. ईमर द्वारा एक जर्मन अनुवाद, तुलना (13), यथा उद्धृत, पृ. 130। दि नव-नालंदा-महाविहार रिसर्च पब्लिकेशन, खंड 2, 1960 में रिगजिन लुंदुब द्वारा किया गया एक हिंदी अनुवाद उपलब्ध है), पृ. 77-81। अतीश दीपंकर मिलेनियम बर्थ कमेमोरेशन वॉल्यूम (बौद्ध धर्मांकुर सभा, कलकत्ता 1983) में लामा चिंपा और अलका चट्टोपाध्याय का एक और अंग्रेजी अनुवाद तथा मृणाल कांति गंगोपाध्याय की एक संस्कृत पुनर्प्रस्तुति उपलब्ध है। पृ. 12एफएफ. 15एफएफ. 138। यथा उद्धृत, पृ. 436। विनिश्चयसंग्रहणी के संदर्भ में वसुबंधु के अभिधर्मकोश-भाष्य 182, 16-19, 3, 94) (प्रधान संस्करण) और फिर यशोमित्र के अभिधर्मकोश-व्याख्या 336, 18-33, में प्रस्तुत एक महत्वपूर्ण उद्धरण का उल्लेख भी आवश्यक है, 1. वोगीहारा संस्करण)। वसुबंधु द्वारा उद्धृत इस छंद का अंग्रेजी में मुक्त भाव से अनुवाद इस प्रकार है : ''अधम व्यक्ति हर तरह से अपनी निजी खुशी चाहे मध्यम व्यक्ति खुशी नहीं, कष्ट को दूर करना चाहे क्योंकि खुशी में कष्ट छिपा है। उत्तम व्यक्ति दूसरों के कष्ट को हंसते-खेलते अपने पर लेना दूसरों की खुशी, और सदा के लिए, उनके कष्ट का अंत चाहे; क्योंकि उनका कष्ट उसका कष्ट है'' यह उल्लेखनीय तथ्य कि इन तीन श्रेणियों के लोगों को लेकर लिखा गया और हीनयान के सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ में उद्धृत यह छंद निश्चय ही ''तीन व्यक्ति सिद्धांत'' के महत्व को सिद्ध करता है। कोश-भाष्य के अपने फ्रेंच अनुवाद ला वैल्ले पॉसिन में वह दीघ निकाय 3, 233 (संगितीसुत्त में और अंगुत्तर निकाय 2, 95 (तुलना ल' अभिधर्मकोश 3, 192) में चट्टारो पुग्गता में इस सिद्धांत के साम्य-स्थलों के प्रति इंगित करते हैं। ऊपर वर्णित यह छंद यद्यपि प्रस्तुत संदर्भ में केवल बोधिसत्त्व की चर्या से संबद्ध है, किंतु इसका उद्धरण सुकोमल चौधुरी के एनैलिटिकल स्टडी ऑफ दि अभिधर्मकोश (कलकत्ता 1976, 1983) के पृ. 144 (टिप्पणी 90) पर भी मिलता है।

38. वही

39. तुलना, ब्स्तान-द्धग्युर, द्वउ-मा ए 252ए6-389बी1-पेकिंग सं. पुनर्मुद्रण सं. 5331, खंड 102, पृ. 113-168।

40. यथा उद्धृत, पृ. 124, तुलना 13।

41. यथा उद्धृत, परिशिष्ट. 2, पृ. 122-124, 111।

42. तुलना, उदाहरणस्वरूप यथा उद्धृत, 255बी5।

43. वी. भट्टाचार्य सं., पृ. 17।

44. यथा उद्धृत, पृ. 172-173।

पश्चिमी तिब्बत में रुतोग प्रस्तर चित्र

प्राचीन काल में, तिब्बती लोगों ने अपने जीवन के तरीके का वर्णन करने तथा अभिलेखित करने के लिए पत्थर के शिलालेख का उपयोग किया था। तिब्बत के पश्चिमी भाग में प्रसिद्ध पक्षी-पर्यटन स्थान, पैंगोंगको झील, के आसपास कई चट्टाने हैं जिन पर कई चित्र हैं। वह चित्र हैं पश्चिमी तिब्बत में प्रसिद्ध रुतोग प्रस्तर चित्र। उनमें से कुछ सड़क के किनारे चट्टानों पर हैं। परन्तु इन्हें अपेक्षाकृत हाल ही में बनाया गया है। रुतोग में प्राचीन प्रस्तर चित्रों को देखने के लिए सड़क से उतरना होगा।

हाल के दशकों में, भारी संख्या में लोग गेरेज, गेयगई और रुतोग काउंटी में प्रस्तर/शैल कला देखने के लिए आए। उनमें से कुछ पश्चिमी और उत्तरी तिब्बत में अधिक ऊंचाई पर स्थित हैं। वह मुख्य रूप से गहरी और उथली रेखाओं से मिलकर बनी हैं जो कड़ी चट्टानों या अन्य कठोर वस्तुओं के साथ पत्थरों पर उकेरी जाती हैं। कुछ चित्रों को गहरे रंगों से बनाया गया है। रटोग काउंटी में लगभग एक दर्जन स्थानों पर सबसे खूबसूरत शैल चित्र हैं। उनमें से, रिसम रिमोडॉन्ग और लोरिनाका दोनो ही आकार में बड़े हैं और संख्या इनकी अधिक है। उनका कलात्मक मूल्य अत्यंत ही महत्वपूर्ण है किन्तु यह अभी तक नहीं जाना गया है और यह ज्ञात ही नहीं है कि वह वास्तविकता में कितने पुराने हैं, यद्यपि इन्हें बहुत पुराना मना जाता है। ■

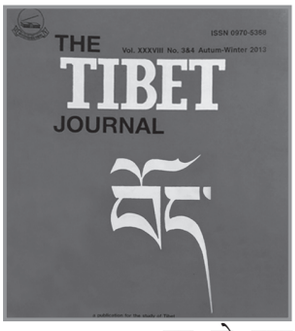

अवदान और तिब्बती नाटक पर उनका प्रभाव

एन. के. दास

अवदान एक प्रकार का बौद्ध साहित्य है जो विगत जीवन के कर्मों को क्रमशः अगले जीवनक्रम और उनकी घटनाओं से जोड़ता है। पहले यह भिक्षुओं द्वारा मौखिक रूप में संप्रेषित की गई, लेकिन बाद में इन्हें विभिन्न भारोपीय भाषाओं में लिख लिया गया और इनकी पांडुलिपियां तैयार की गईं। सदियों पुरानी तिब्बती संस्कृति पर इसके प्रभाव की एक रूपरेखा

भारतीय विचारपद्धति में परंपरागत विचारधाराएं हों या गैर-परंपरागत, सभी कहीं न कहीं कर्म और इसके फल पर बल देती हैं। विशेषकर बौद्ध धर्म में उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है। यह उद्देश्य है निर्वाण की प्राप्ति। आम तौर पर ऐसा माना जाता है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है। बुरे कर्म से पीड़ा होती है और सत्कर्मों से आनंद की प्राप्ति होती है।

प्राचीन भारत में लोक-व्यवहार ही ऐसा था कि अध्यापक लोग, वे स्त्री हों या पुरुष[1] लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उनके सामने श्रेष्ठ कर्मों की कथाएं कहते थे। बौद्ध भिक्षु और जैन साधु, जनता को सत्कर्मों की ओर प्रेरित करने के लिए उन महापुरुषों की कथाएं कहते थे जिन्होंने असाधारण कर्म किए थे। बौद्ध साहित्य में महापुरुषों के श्रेष्ठ कर्मों के लिए पारिभाषिक शब्द है-अवदान।

अवदान-ग्रंथों का संस्कृत साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। बौद्धों ने अवदान कथाओं के रूप मंत संस्कृत भाषा को अद्वितीय उपहार दिया है। 'अवदान'[2] शब्द का अर्थ है उन महापुरुषों के जीवन से उठाई गई विशिष्ट कथाएं जिन्होंने वीरतापूर्ण या अन्य प्रकार के श्रेष्ठ कर्म किए हों। ये कर्म धार्मिक भी हो सकते हैं और इनसे उन महापुरुषों को असाधारण उपलब्धियां प्राप्त होती हैं। ये कथाएं केंद्रित होती हैं इस विश्वास पर कि 'अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा' होता है। अवदान उन कर्म आधारित कथाओं का संकलन है जिसका उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि किस प्रकार हमारे कर्म अतीत और भविष्य के हमारे अस्तित्वों से जुड़े होते हैं। अतः एक सामान्य अवदान में एक कथा वर्तमान की, एक अतीत की और एक इन कथाओं से मिलने वाली शिक्षा की होती है। यदि कथानायक बोधि सत्व हो तो अवदान को जातक भी कहा जाता है। अवदान और जातक आम तौर पर इस आधार पर भिन्न होते हैं कि अवदान संस्कृत में और जातक पालि भाषा में लिखे होते हैं।

यह समझना भी आवश्यक है कि जातक कथाएं बुद्ध के उन पूर्वजन्मों पर आधारित हैं जब वे बोधिसत्व थे, अर्थात बुद्ध होने के मार्ग पर अग्रसर थे। जातक कथा के तीन भाग होते हैं। प्रथम भाग को प्रत्युत्पन्नवस्तु कहते हैं। यह वर्तमान की कथा अर्थात जातक कथा की भूमिका होती है। दूसरा भाग अतीत वस्तु कहलाता है जो अतीत की कथा अर्थात वास्तविक जातक कथा होती है। तीसरे भाग को समवधान कहते हैं। इसके अंतर्गत बुद्ध के साथ क्रियाशील रहने वाले मुख्य चरित्रों और पूर्वजन्म में उनके समकालीनों की पहचान की जाती है। ये सब विचारणीय स्थितियां होती हैं। अवदान का अर्थ ही 'विचारणीय' होता है।

अवदान साहित्य एक ऐसा वृक्ष है जिसकी एक जड़ थेरवाद साहित्य में और दूसरी महायानया बोधिसत्व कथाओं में, विशेषकर अपदान कथाओं में है। आरंभिक रचनाएं पूर्णतः थेरवाद से निकली हैं। 'थेरवाद' शब्द का अर्थ है-श्रेष्ठ लोगों का कथन। इसे हीनयान के नाम से भी जाना जाता है। बाद की रचनाएं (अपादान)[3] बोधिसत्व के आदर्श को गरिमा प्रदान करती हैं और इसलिए महायानी कही जा सकती हैं। कुछ विचारक दोनों ही तकनीकी शब्दों को समानार्थी मानते हैं।[4]

बौद्धधर्म की भांति ही हिंदू धर्म के पुराणों का एक बहुत बड़ा भाग माहात्म्यों, आख्यानों,

उपाख्यानों और कथाओं से भरा पड़ा है। ये कहानियां भी बौद्ध अवदानों से मिलती-जुलती हैं। इनमें अनेक श्रेष्ठ कर्मों और व्रतों के स्रोतों की व्याख्या है।[5] जैन-धर्म में भी श्रेष्ठ कर्मों के उपदेश देने वाली अनेक रचनाएं मिलती हैं।

तिब्बती नाटक

तिब्बत के सांस्कृतिक इतिहास को दो अलग-अलग भागों में बाँटा जा सकता है-पूर्व बौद्ध और बौद्ध। जो दस्तावेज प्राप्त हुए हैं वे अधिकतर बौद्ध लेखकों ने ही लिखे हैं। इन दस्तावेजों से पता चलता है कि बौद्ध धर्म सातवीं शताब्दी ईस्वी में तिब्बत पहुंचा।[6] उससे पहले तिब्बत में एक स्थानीय, लगभग सर्वात्मवादी धर्म का चलन था जो 'बॉन'कहलाता था। यही पूर्व बौद्ध परंपरा थी।

तिब्बती भाषा और संस्कृति के सुविख्यात विद्वान शरत चन्द्र दास के बॉन को अब एक ऐसे शमनधर्म के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी है जिसका चलन तिब्बत में बौद्ध धर्म से पहले था। कुछ भागों में अभी भी इसका चलन है। इसकी तीन अवस्थाएं थीं-बृदोलबॉन, ख्यारबॉन और ब्स्युरबॉन।[7] तिब्बत के निवासी हिमालय पार के विभिन्न पहाड़ी कबीलों में से एक थे। प्रत्येक कबीले को नृत्य और संगीत की प्रतिभा विरासत में मिली थी जिसका प्रदर्शन कबीले में ही होता था। तिब्बती इस मामले में अपवाद नहीं थे। तिब्बत की पूर्वबौद्ध संस्कृति में निश्चय ही अनेक प्रकार के नृत्य, संगीत और गीत रहे होंगे।

तिब्बती में बौद्ध धर्म आया तो नृत्य, संगीत, गीत, चित्रकला, आदि, की परंपराओं को बौद्धों नें भी अपना लिया। प्रस्तुत आलेख में तिब्बती नाटक पर अवदान कथाओं के प्रभाव को रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है।

दुर्भाग्य से पूर्वबौद्ध कला की प्राचीन परंपराएं तिब्बत से लगभग लुप्त हो चुकी हैं। परन्तु कोई भी सांस्कृतिक परंपरा पूर्णत: लुप्त नहीं हो सकती। बौद्ध मठों के अनेक अनुष्ठानों के अवसरों पर तिब्बती भिक्षु जिन बौद्ध नृत्यों, संगीत और नाटकों का प्रदर्शन करते हैं उनमें कुछ प्राचीन तत्त्वों और प्रभावों को देखा जा सकता है।

तिब्बती बौद्ध धर्म का माथो नागरंग (पवित्र मुखौटा नृत्य)
साभार: https://www.indianvisit.com/blog/festivals-of-ladakh/

हिमालय के क्षेत्र में तिब्बती और भोटिया (भारतीय-तिब्बती) समुदायों के धार्मिक उत्सवों के अवसरों पर तिब्बती मुखौटा नाच का प्रचलन था। ऐसे नृत्य अभी भी अनेक आदिवासी समुदायों में देखे जा सकते हैं। यूनान तथा मिस्र के अनेक प्राचीन आदिवासी समुदाय भी ऐसे नृत्य करते हैं।

तिब्बती भिक्षु सामान्यत: 'लाल बाघ-पिशाच' जैसे रहस्यवादी नाटकों का प्रदर्शन करते हैं जिनमें देवी-देवताओं और पिशाचों को मुखौटों के माध्यम से दर्शाया जाता है। इनमें कुछ ऐसे धार्मिक नाटक भी होते हैं जिनमें बुद्ध और अन्य आध्यात्मिक पुरुषों की कथाओं और जातक एवं अवदान कथाओं को प्रस्तुत किया जाता है। पिछले कुछ दशकों से यूरोप के अनेक यात्रियों ने तिब्बत के भीतर तक यात्राएं की हैं। इन यात्रियों ने उन अनेक नृत्य-नाटिकाओं के बारे में लिखा है जिनका प्रदर्शन तिब्बती भिक्षु करते हैं और जिनमें उनके साथ सामान्य जन भी अभिनय करते हैं। उनके आलेखों से पता चलता है कि तिब्बती लोग उत्सव के दिनों में सुबह सवेरे खिली हुई धूप में नाटकों का प्रदर्शन करते हैं। विशेषकर वर्ष के अंतिम दिन यह प्रदर्शन होता है जब निन्गमापा का पद्मसंभव दिवस मनाने के लिए बड़ी संख्या में लोग जमा होते हैं। ये नाटक ऐसे आध्यात्मिक उत्साह का संचार करते हैं जिसे बौद्ध नैतिकता से ऊर्जा प्राप्त होती है। इन नाटकों में बौद्ध धर्म के मूल भावों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है।

इन नाटकों के पीछे कार्यरत विचार की व्याख्या करते हुए वैडल कहते हैं कि लामा, जो जीवन के हर व्यवहार में बौद्ध थे, किसी की जान लेने के बारे में सोच भी नहीं सकते थे। इसलिए इस प्राचीन, अत्यंत लोकप्रिय उत्सव को अपनी व्यवस्था का अंग बनाकर बलि होने वाले मनुष्यों के स्थान पर मनुष्य जैसे ही पुतलों का प्रयोग किया और उन पुतलों के भीतर शरीर के भीतरी अंगों को नमूने और रक्त के रूप में लाल रंग भी रखवाया। 'बॉन' प्रथाओं के अनुसार जीवित पशुओं की बलि के स्थान पर पुतलों को रखने की परंपरा को पद्मसंभव से जोड़ा जाता है जिन्होंने इसकी शुरुआत 8वीं शताब्दी ईस्वी में की थी। ऐसे प्रतीकात्मक पुतलों की बलि, जिनके भीतर शरीर के अंगों तक की प्रतिकृतियां रखी जाती हैं अब लामाओं की दैनिक पूजा का अभिन्न अंग बन चुकी हैं।[8]

तिब्बती नाटक की मंच-व्यवस्था

तिब्बती नाटक का विषय गीतात्मक होता है जिसकी अभिव्यक्ति कलाकार अपने शारीरिक हाव-भाव से करता है। कलाकार आम तौर

पर चरित्रों की अभिव्यक्ति मुखौटे लगा कर करते हैं। परन्तु यह अभिनय पद्धति केवल तिब्बतियों में ही देखने को नहीं मिलती। एशियाई नाटक के इतिहास में प्राचीन काल से ही ऐसा होता रहा है। वर्तमान में भी सुदूर पूर्व एशिया और भारत के लोक नृत्यों में ऐसा किया जाता है।

तिब्बती मंच-व्यवस्था और एशियाई मंच-व्यवस्था में काफी समानताएं हैं। नाटक के मंचन के दौरान संगीत कुछ तेज और उग्र हो जाता है। अनेक प्रकार के मुखौटे पहने एक के बाद एक कलाकारों के समूह तेजी से मंच पर आते हैं, जिनमें से कुछ लकड़ियों की डफलियां और कुछ झुनझुने और घंटियां बजाकर उत्तेजना में वृद्धि करते हैं। उनमें से अधिकतर भद्दे, विचित्र वस्त्र पहने होते हैं जो अंतर्जगत में मौजूद द्वेष की सार्थक अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसा करते हुए वे जोरों से बज रहे अपरिष्कृत से संगीत पर विचित्र कदमों और हाव-भाव के साथ नृत्य करते हैं।

अभिनेता

दिलचस्प बात यह है कि थेरवाद के पालि भाषा में लिखे गए प्रतिमोक्ष नियमों के अनुसार भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए नाटक देखना वर्जित है क्योंकि इससे व्यक्ति भ्रमित हो सकता है। परंतु तिब्बत के भिक्षु नाटकों में भाग लेने से भी नहीं कतराते और कभी-कभी मुखौटे पहनकर स्त्रियों की भूमिका भी निभाते हैं। तिब्बती भिक्षु और भिक्षुणियां मूलसर्वास्तिवाद के अनुयायी हैं और अनेक अवसरों पर भिक्षु स्त्रियों के साथ भी अभिनय करते हैं।

विषय-वस्तु

ति-मेदकुन-ल्दान तिब्बत का एक लोकप्रिय नृत्य-नाटक है। यह एक अत्यंत लोकप्रिय कथा पर आधारित है। अनेक वर्ष पहले एक राजकुमार था जिसका नाम ति-मेदकुन-ल्दान था। राजकुमार के पिता अर्थात राजा के पास एक हीरा था जिसका नाम था नोरबुद्गोस-दॉदद्पुन्ग-जॉम्स। यह हीरा मनुष्य की सभी इच्छाओं की पूर्ति करने की क्षमता रखता था।

एक ब्राह्मण एक ऐसे देश से आया जिसका राजा इतना लोभी था कि उसकी प्रजा को उसके लोभी स्वभाव के कारण अकसर सूखे और अकाल से पीड़ित होना पड़ता था। ब्राह्मण ने इच्छाओं की पूर्ति करने वाले हीरे को उपलब्ध करवाने की प्रार्थना की। राजा कहीं गया हुआ था। राजकुमार का हृदय अकालग्रस्त लोगों के लिए करुणा से भर उठा और उसने ब्राह्मण को वह हीरा दे दिया।

राजा वापस आया तो उसे सारी बात बताई गई। क्रोधित होकर उसने राजकुमार को देशनिकाला दे दिया क्योंकि उससे पूछे बिना हीरा ब्राह्मण को दे दिया गया था। राजकुमार अपनी पत्नी न्यि-ज्लास्ग्रोन-मा (माद्री) को लेकर अपने दो पुत्रों और एक पुत्री के साथ राज्य से निकल गया। वे जंगल से गुजर रहे थे तो फिर से एक ब्राह्मण प्रकट हुआ और उनसे वह रथ मांगा जिसमें वे यात्रा कर रहे थे।

पत्नी के इन्कार के बावजूद राजकुमार ने ब्राह्मण को रथ दे दिया। वे चलते गए और रास्ते में एक भिखारी मिला। उसने उनके कपड़े मांगे। राजकुमार ने अपने सभी कपड़े दे दिये। इसके बाद उन्होंने पहाड़ों की एक गुफा में शरण ली। फिर से वही बूढ़ा ब्राह्मण प्रकट हुआ और काम करने के लिए सेवकों की मांग की। माद्री फल-मूल लेने के लिए वन में गई हुई थी।

इस बीच, राजकुमार ने बूढ़े ब्राह्मण की सेवा के लिए अपने दो बच्चे दे दिये थे। वन से लौटकर माद्री को यह पता चला तो उसका दिल धक से रह गया। राजकुमार उसे सांत्वना देने के अतिरिक्त क्या कर सकता था!

राजकुमार के दान-धर्म से प्रभावित होकर देवताओं के राजा शक्र ब्राह्मण का रूप धर कर उसकी परीक्षा लेने के लिए आए थे। तो यह ब्राह्मण इतने से ही संतुष्ट न हुआ। उसने चूल्हे-चौके के लिए एक स्त्री उपलब्ध कराने की प्रार्थना की। थोड़ी सी हिचकिचाहट के बाद राजकुमार ने अपनी पत्नी इस कार्य के लिए दे दी। देवताओं के राजा राजकुमार के इस व्यवहार से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसे सब कुछ वापस कर दिया।

नाटक का अंत थोड़े हास्य के साथ होता है जब राजा और प्रजा, परिवार सहित लौटे राजकुमार का स्वागत करते हैं।

यद्यपि यह एक प्रतिनिधि तिब्बती नाटक है फिर भी यह उन अनेक भारतीय कहानियों जैसा ही है जिनमें कर्मफल की प्रधानता की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसी कहानियों के भाव का आधार जातक में ही मिलता है जहां श्रेष्ठ कर्म का महत्व दर्शाया गया है जिसका फल इस संसार में तो मिलता ही है संसार छोड़ने के बाद भी फल प्राप्त होता रहता है। लोगों के हित के लिए असीम कष्ट सहने के बावजूद अंत में ति-मेदकुन-ल्दान को अपनी करुणा का सुफल प्राप्त हो ही गया।

चोस-रग्यालनॉर-ब्जांग जैसा नाटक भी इसी भाव पर आधारित है। इस नाटक का नायक अपनी प्रेयसी मेन-द्रेलब्जांगमों नाम की परी से अलग कर दिया जाता है। नायक के सत्कर्मों के फलस्वरूप सभी संकट दूर हो जाते हैं और काले टोप का जादूटोना करने वाले लोगों की हार हो जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि 'बुरे काम का बुरा नतीजा और अच्छे काम का अच्छा नतीजा' वाले सूत्र का हिमभूमि तिब्बत के नाटकों पर गहरा प्रभाव है। यह आधारभूत सूत्रवाक्य है जो भारत से तिब्बत में आया जहां इसकी अभिव्यक्ति कलाओं के प्रदर्शन के माध्यम से हुई। ऐसे प्रभाव अन्य तिब्बती नाटकों जैसे ग्रो-बा ब्जांग-मो, रग्याल-बा द्रोन-ग्रब में भी देखे जा सकते हैं।

थेरवाद के पालि भाषा में लिखे गए प्रतिमोक्ष नियमों के अनुसार भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए नाटक देखना वर्जित है क्योंकि इससे व्यक्ति भ्रमित हो सकता है। परंतु तिब्बत के भिक्षु नाटकों में भाग लेने से भी नहीं कतराते और कभी-कभी मुखौटे पहनकर स्त्रियों की भूमिका भी निभाते हैं। तिब्बती भिक्षु और भिक्षुणियां मूलसर्वास्तिवाद के अनुयायी हैं और अनेक अवसरों पर भिक्षु स्त्रियों के साथ भी अभिनय करते हैं

प्रधान रस

जिन नाटकों के बारे में बताया गया उनका प्रधान रस (अंगीरस) शांत रस है और यही रस कुछ अवदान कथाओं का भी प्रमुख रस है। इससे मनुष्य को संतोष प्राप्त होता है। अत्यंत भय और आतंक की स्थितियों में व्यक्ति का उदार-हृदय बने रहना संभव नहीं होता। इसी बात को तिब्बती नाटकों के रहस्यात्मक नृत्य में ढाला गया है ताकि लोग अच्छी तरह से समझ सकें। नाटक के आरंभ में अस्थिरता का वातावरण दिखाई देता है, शांति और सुख का नामोनिशान नहीं होता। अंततः रौद्र रस भंग हो जाता है और बुद्ध के मंच पर आने के साथ ही शांत रस स्थापित हो जाता है।

अत्यंत भय और आतंक की स्थितियों में व्यक्ति का उदार-हृदय बने रहना संभव नहीं होता। इसी बात को तिब्बती नाटकों के रहस्यात्मक नृत्य में ढाला गया है ताकि लोग अच्छी तरह से समझ सकें। नाटक के आरंभ में अस्थिरता का वातावरण दिखाई देता है, शांति और सुख का नामोनिशान नहीं होता

नाटक की विषय-वस्तु का आधार ही यह है कि स्थिरता और शांति का प्रभुत्व हो तो कोई भी बुद्ध हो सकता है। इसीलिए पैशाचिक कंकाल-नृत्य अकस्मात ही सुंदर, शांत नृत्य में बदल जाता है। इस प्रकार शांत रस भिक्षुओं के मन में स्थापित हो जाता है। सौंदर्यबोध से होते हुए मनःस्थिति में परिवर्तन की यह प्रक्रिया, तिब्बती कलारूपों का अभिन्न अंग है जिसने तिब्बत में बौद्धधर्म के आने के बाद ही आकार लिया है।

साभार: द *टिबेट जर्नल*, खंड 17, अंक 3, शरत् 1992

संदर्भ

1. *दास, एन.के.: एजुकेशन इन एंशिएंट इंडिया ऐज नोन फ्रॉम पाणिनि, एशियन स्टडीज, खंड-6, अंक 4, पृष्ठ I-8*
2. *'अवथिन' शब्द की व्युत्पत्ति डु धातु से हुई है, जिसका अर्थ है गति करना। डीपी 1/191, 'इयु'(त) प्रत्यय के साथ इसमें 'अव' उपसर्ग भी लगा हुआ है। 'शब्दकल्पद्रुम' के अनुसार 'अवदान' और 'अपदान' दोनों शब्दों का अर्थ समान ही है (कृपया देखें, शब्दकल्पद्रुम खंड 1, वाराणसी, 1967, पृष्ठ 124)। यद्यपि अपदान शब्द की व्युपत्ति 'द्य' धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'शुद्ध या पवित्र करना' होता है। इसमें 'अप' उपसर्ग के बाद 'इयु(त्)' प्रत्यय करने से, व्युत्पत्तिमूलक अभिप्रायविधान के अनुसार, ये दोनों शब्द समान अर्थों वाले हो जाते हैं। साधारण तौर पर इसका अभिप्राय होता है विशुद्ध अथवा पूर्ण बनाना (कृपया देखें वाचस्पत्यम्, खंड 1, वाराणसी, 1969, पृष्ठ संख्या 227 एवं 427)। शब्द विज्ञान संबंधी अन्य कृतियां भी इस बात को स्वीकार करती हैं कि विमर्श में लिए गए इन दोनों शब्दों के अर्थ समान ही हैं। अमरकोश की इस टीका में भानुजी दिबित का मत है कि क्वचित अपदानम इति पठः (कृपया देखें अमरकोश, द्वितीय संस्करण, बंबई, 1897, पृष्ठ 446)।*
3. *कृपया देखें, विंटरनित्ज कृत हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, खंड 2, कलकत्ता, 1933, पृष्ठ 278। विंटरनित्ज ने इसमें लिखा है: "अवदान शब्द का अर्थ है एक उल्लेखनीय कार्य। वैसे इसका प्रयोग इसी तरह कभी-कभी अन्यथा अर्थ में भी किया जाता है। किंतु, सामान्यतः इसका प्रयोग वीरतापूर्ण कार्यों के संदर्भ में प्रशंसात्मक अभिप्राय में ही किया जाता है। ऐसे कार्य जिनमें किसी के अपने जीवन की बलि या समर्पण जैसी बातें शामिल हों। विस्तार लेते हुए इसका अर्थ गंध, पुष्प, जेवर, स्वर्ण, रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुओं के उपहारों के संदर्भ तक भी चला जाता है। इसके अलावा स्तूप, चौत्य एवं ऐसे अन्य प्रकार के चिरकालिक स्मारकों के निर्माण आदि के मामलों में भी इसका प्रयोग कर लिया जाता है। अ डिक्शनरी ऑफ इंडोलॉजी के सह लेखक भी विंटरनित्ज की इस स्थापना को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अवदान का अर्थ है उल्लेखनीय कार्य, संस्कृत में बौद्ध कृतियों की एक श्रेणी। इनमें बुद्ध अथवा बोधिसत्व के पूर्व जन्म के आख्यानों को जोड़कर देखा जाता है। इसमें कथित कार्यों में किसी के अपने जीवन की बलि, समर्पण जैसी बातें हो सकती हैं, किंतु साथ ही इसमें पुष्प, गंध या स्तूप अथवा चौत्य के निर्माण जैसी साधारण बातें भी इसमें ली जा सकती हैं। परंपरागत रूप से आम तौर पर इसमें इसमें यह दिखाने की वृत्ति होती है कि बुरे काम के बुरे नतीजे ही होते हैं और अच्छे कार्यों के अच्छे परिणाम मिलते हैं।*
4. *कृपया देखें टिप्पणी 2.*
5. *वही*
6. *स्रों-वत्सम-साम-पो का 650 ई. के आसपास निधन हो गया।*
7. *अ टिबेटन इंग्लिश डिक्शनरी, 1983, पृष्ठ 879*
8. *कृपया देखें बुद्धिज्म ऑफ टिबेट (द्वितीय संस्करण) कैंब्रिज, 1967, पृष्ठ 518।*

डेविड टेंपलमैन

'सीमा के दक्षिण' तारानाथ का भारत बोध

तारानाथ तिब्बत में जोनांग मत के बौद्ध लामा थे। वह अपने मत के सबसे महत्वपूर्ण विद्वान और व्याख्याता माने जाते हैं। उनका मूलनाम कुन-द्गा स्निंग पो है, संस्कृत में इसका अर्थ आनंदगर्भ होता है। तारानाथ एक उत्कृष्ट लेखक और सुविख्यात भारतप्रेमी विद्वान माने जाते रहे हैं। उनकी भारत संबंधी धारणाओं पर एक आलोचनात्मक दृष्टि

पिछली कतिपय प्रस्तुतियों में मैंने भारत के प्रति तारानाथ के आकर्षण और एक 'आभासी भारतीय' के रूप में उनके अपने साहित्यिक मनोविनोद की चर्चा की है।

यह एक ऐसे प्रमाण पर आधारित रहा है, जो यह बताता है कि तारानाथ, विशेष रूप से अपने आरंभिक वर्षों में, स्वयं को एक भारतीय के रूप में देखते थे, जिनका जन्म मानो 'संयोगवश' ग्त्सांग में हुआ।

उनके अंतिम लेखनों में यह विचार और भी प्रखर होकर सामने आया है।

इस निबंध का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। इसमें भारत के उस रूप पर विचार किया गया है, जिसका अंग तारानाथ स्वयं को मानते थे। यह बताता है कि भारत की एक यथार्थ और अंतरंग छवि गढ़ने की बजाय, जिसके लिए तारानाथ जाने जाते थे, उन्होंने अपने मन में भारत का एक आदर्श स्वरूप संजो रखा था, उनके सुपरिचित भारतीय सूचनादाताओं द्वारा प्रदत्त और प्रस्तुत तथा उनकी अपनी कल्पनाओं के अनुरूप एक जीवंत छवि।

इस लघु निबंध में, जिसमें भारत में तारानाथ की अतीत और भविष्य की भूमिकाओं, वस्तुत: भारत के अस्तित्व के प्रति उनके विचार को समझने का प्रयास किया गया है। मेरा अभिप्रेत यह नहीं है कि यह शोध केवल एक व्यक्ति तारानाथ तक ही सीमित हो।

बल्कि, मैं इसे उन प्रायोजनों की एक बृहत शृंखला से संबद्ध मानता हूँ, जो भारत के प्रति तिब्बत के ज्ञान को पुनर्परिभाषित करने और तिब्बत के 'बाहरी विश्व' से संबद्ध ज्ञान के अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत पुनरावलोकन की दिशा में अग्रसर हैं। हाल के विद्वानों, जैसे एरिस (1995) और हूबर (2008) ने इन शोधों की सुविस्तृत व्याख्या की है।

इतिहास की समस्याएँ

जहाँ तक तारानाथ की भारत के धार्मिक इतिहास की समझ का संबंध है, हमें हमारी इस कल्पना के लिए क्षमा किया जाना चाहिए कि सन् 1608 में लिखित उनका तथाकथित ओरिजिन्स ऑफ दि धर्म इन इंडिया (भारत में धर्म के स्रोत), ग्र्या गर चोस ब्युंग, जैसा कि उसकी ख्याति से पता चलता है, परिशुद्ध विद्वता का एक साक्ष्य है।1 तिब्बत, भारत और यूरोप के इतिहासों में अपनी प्रभावशाली उपस्थिति के कारण यह आशावादी मूल्यांकन आंशिक हो सकता है, जहाँ इसका उपयोग अक्सर एक स्पष्ट बेदाग स्रोत के रूप में किया जाता रहा है। ऐसे पर्याप्त शोध सामने आए हैं, जो बताते हैं कि स्थिति ऐसी कतई नहीं है। इसके विपरीत हम पाते हैं कि भारत के प्रति तारानाथ का ज्ञान वस्तुत: निहायत कम था। इसमें ज्यादा से ज्यादा, राजवंश से जुड़े कुछ वृत्तांतों और नामों और एक मूलभूत किंतु अयथार्थवादी भूगोल का ज्ञान शामिल था। यह सारा ज्ञान बौद्ध धर्म के प्रति अपेक्षाकृत लोक प्रचलित अवधारणाओं से संबद्ध था, जिसमें तारानाथ के अनुसार उसके पाथ की एक यथार्थ व्याख्या निहित थी।

विशेष रूप से उत्तर पालवंश युग में बौद्ध धर्म के पतन के बाद 11वीं-12वीं शताब्दी में उसके उत्थान के अन्यथा पूर्णत: अज्ञात विषय की उनकी चर्चा में, हमें न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से अप्रमाणित 'तथ्यों', बल्कि उन्हें उन लोगों द्वारा प्रेषित कल्पित वृत्तांतों का समावेश भी

मिलता है, जिन्हें मैं 'अर्ध-साधु' मानता हूँ। जिसे भारत के बौद्ध इतिहास का एक यथार्थ संक्षिप्त विवरण माना जाता है, उसका अधिकांश अपने स्वरूप में वस्तुत: नितांत रूप से अयथार्थ और कई स्थलों पर पूर्णत: काल्पनिक है।

फिर भी इसकी प्रस्तुति की सुसंगत और तर्कसंगत शैली तथा इसकी विषयवस्तु की स्पष्ट गंभीरता में दृढ़ता और विश्वसनीयता की एक छाप मिलती है। संभवत: ये ही कारण हैं कि तिब्बत के जिन इतिहासकारों को तारानाथ के 'ओरिजिन्स ऑफ दि धर्म इन इंडिया' की खामियाँ स्पष्टत: दिखाई दे गई थीं, उनके ग्रंथों में इसका उल्लेख विरले ही मिलता है, हालाँकि उसके विशाल और विस्तृत विश्लेषण के कारण उसे तिब्बतियों का अपार सम्मान मिला।

वस्तुत: यदि कोई तारानाथ के अन्य तथाकथित 'ऐतिहासिक' ग्रंथों की गुण-दोष विवेचन की उसी क्षमता से समीक्षा करे, तो उन ग्रंथों में भी वैसी ही त्रुटियाँ मिल सकती हैं। तारानाथ के वयस्क जीवन के कोई 30 वर्षों के दौरान जो ग्रंथ लिखे गए उनमें कुछ खास ऐतिहासिक रूपकों के प्रति उसी प्रकार का आकर्षण दिखाई देता है।[2] इन रूपकों में एक प्रत्यक्ष सुसंगत कथा और पूर्ववर्ती वृत्तांतों के प्रमाण के आधार के रूप में उन पर एक गहरा भरोसा शामिल है। इसके अतिरिक्त, विशेष रूप से इन बाद के ग्रंथों में, भारत के बौद्ध सिद्धों के अनंत और अटूट प्रभावक्षेत्र की एक लगभग अविवेकी स्वीकृति दिखाई देती है, जो, तारानाथ के अनुसार, 16वीं-17वीं शताब्दी में भारत में भरे पड़े थे।

बौद्ध धर्म के अंतिम काल यानी 16वी-17वीं शताब्दियों पर तारानाथ के लेखनों का विश्लेषण करते समय, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि उस अंतिम काल में भारत में 'बौद्ध धर्म' जैसी कोई चीज मौजूद थी। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म के अस्तित्व के प्रति उनके कदाचित प्रामाणिक वृत्तांतों में आतुरतापूर्ण सोच की झलक दिखाई देती है, जो, भारत और उसके धर्मों की स्थिति की कल्पना में डूबे तारानाथ के साथ बनी रही।

तारानाथ और 'भारतीयता' का उनका बोध

कई अन्य तिब्बती धर्माध्यक्षों की तरह, भारतीय होने की अपनी भावना को वैध ठहराने के एक साधन के रूप में तारानाथ साभिप्राय स्वयं को भारत के बौद्ध धर्म के इतिहास के कुछ खास महत्वपूर्ण चरणों से जोड़ते हैं। इन अंतरंग कार्यकलापों का उल्लेख उन्होंने अपने ग्रंथ *सीक्रेट ऑटोबायोग्रफी* (टीएआरए4) के दूसरे खंड में तब किया, जब उनकी आयु 37 वर्ष थी। बौद्ध इतिहास की जिन विशिष्ट महत्वपूर्ण घटनाओं और लोगों से वह स्वयं को जोड़ते हैं, वे इस प्रकार हैं:

-शाक्यमुनि के पूर्ववर्ती बुद्ध, बुद्ध विपश्यी के घनिष्ठ मित्र के रूप में
-ग्रेट ड्रम सूत्र (महाभेरी सूत्र) के बुद्ध के उपदेश के समय एक श्रोता के रूप में उपस्थित होना
-ली यू1 (खोतान) के राजा
-सच्चे अर्थों में 84 महासिद्धों में से एक महासिद्ध कृष्णाचार्य होना
-नालंदा महाविहार के संस्थापक के पुरोहित के रूप में
-अभयाकरगुप्त के एक मित्र के रूप में
-जो बो अतीश के एक छात्र के रूप में

इन उल्लेखनीय स्थलों पर और स्थितियों में होने का यह दृढ़ कथन तारानाथ के भारत को पूरी अंतरंगता से 'जानने' के दावों को प्रमाणित करने में सहायक सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त 59 वर्ष की आयु में लिखित अपनी संपूर्ण विशाल ऑटोबायोग्रफी (आत्मकथा) में, और क्रमिक रूप से 24, 37 व 44 वर्ष की आयु में तीन खंडों में लिखित अपनी *सीक्रेट ऑटोबायोग्रफी* (गुप्त आत्मकथाएँ) में उन्होंने पूरी तरह से स्पष्ट कर दिया है कि वह शरीर से न सही, किंतु हृदय से भारतीय थे। जीवन की विभिन्न घटनाओं से, जिनका उल्लेख उन्होंने किया है और जिनकी विस्तार से चर्चा नहीं की जाएगी, पाठकों को पता चल जाएगा कि:

1/ भारतीय योगियों ने उनके जीवन की रक्षा की थी और उन्हीं के आशीर्वाद से उनका जीवन सुदृढ़ हुआ।

2/ पूर्व में उनका संबंध भारतीय योगियों से था, इसकी झलक उनकी युवावस्था में उन योगियों के जीवनों का अनुसरण करने की उनकी उत्कट इच्छा में दिखाई देती है

3/ उनका सच्चा 'घर' बौद्ध भारत के हृदयस्थल, बोध गया में था, जहाँ उन्हें भारतीय योगियों के दर्शनीय स्थान पर कल्पनाओं में ले जाया जाता है।

4/ विभिन्न भारतीय बोलियों के ज्ञान के बल पर भारतीय योगियों से सरलता से बातचीत करने की अपनी क्षमता के प्रति वह इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारतीय भाषाएँ उनकी स्वाभाविक संस्कार थीं।

5/ बाल्यावस्था के कल्पना लोक में उन्हें आभास होता है कि उनका अंतरतम स्वभाव चक्रसंवर, जिन्हें भारतीय तांत्रिक साधना में आमतौर पर अनुत्तरयोग देव माना जाता है, के समान है और उनसे अलग नहीं है।[3]

यह सब भारत के प्रति कोई स्नेह मात्र नहीं था। वह हम से बार-बार कहते हैं कि आर्यावर्त से उनका संबंध उनके रग-रग में समाया हुआ था। किंतु, पूर्ववर्ती युगों के पंडितों के विपरीत, जिन्होंने यथार्थत: आर्यावर्त का भ्रमण किया था, तारानाथ कभी आर्यावर्त नहीं आए थे। इसकी बजाय, उन्होंने भारत के प्रति एक व्यक्तिगत, आदर्श और विशेष छवि कायम कर रखी थी, जो दोषपूर्ण किंतु हृदयग्राही थी।

तारानाथ के वयस्क जीवन के कोई 30 वर्षों के दौरान जो ग्रंथ लिखे गए उनमें कुछ खास ऐतिहासिक रूपकों के प्रति उसी प्रकार का आकर्षण दिखाई देता है। इन रूपकों में एक प्रत्यक्ष सुसंगत कथा और पूर्ववर्ती वृत्तांतों के प्रमाण के आधार के रूप में उन पर एक गहरा भरोसा शामिल है

विंध्य पहाड़ियों में बघेल राजा और बौद्ध धर्म

जिन घटनाओं के चलते तारानाथ के मन में भारत के निर्माण को लेकर कल्पनाएँ उपजी थीं, उनमें कुछ भारतीय सिद्धों के साथ उनकी बैठकें थीं। इन सिद्धों के बारे

में कहा जाता है कि इन्होंने ही उन्हें तंत्र की नवीनतम तकनीकियाँ प्रदान की थीं।

तारानाथ की भारत के प्रति मानसिक अनुरक्ति को उनके भारतीय गुरु बुद्धगुप्तनाथ और उन सिद्ध के अपने गुरु शांतिगुप्त के आश्रयदाताओं के बीच के संबंध के अध्ययन से समझा जा सकता है। जैसा कि तारानाथ कहते हैं, शाही पुजारी के रूप में शांतिगुप्त का कई दशकों तक उत्तर भारत के बघेल शासकों से संपर्क रहा। तारानाथ के अनुसार, शांतिगुप्त बघेल शासकों के धार्मिक मामलों के मुख्य कर्ता-धर्ता थे, किंतु बांधवगढ़ में एकांत में स्थित उनके दुर्गस्थल पर बौद्ध धर्म का कोई लेश तक नहीं मिलता। इसके विपरीत और बघेलों के बौद्ध धर्म के प्रति वचनबद्ध होने के तारानाथ के प्रबल दावों के विरुद्ध सन् 1597 तक यथेष्ट संख्या में वैष्णवों और शैवों की मूर्तियाँ तथा पवित्र स्थल मिलते हैं, जब बघेलों ने अकबर के अधिकार सीमा के निकट रीवा शहर में अपना प्रभुत्व पुनः कायम किया।

अकबर काल के अन्य स्वतंत्र राजाओं की तुलना में बुद्धगुप्तनाथ और शांतिगुप्त के ये संरक्षक निस्संदेह गौण थे। बघेला राजे असाधारण रूप से समृद्ध थे, सुप्रसिद्ध योद्धा थे और उन्हें कबीर समेत अनेकानेक धार्मिक पंडितों-पुरोहितों का अनुग्रह प्राप्त था। किंतु, उस समय के अन्य सत्ता के प्रति उनके मन में एक 'दूषित भावना' थी और उनके पतन के बहुत बाद तक वे स्वतंत्र रहे।

हम जानते हैं कि अपने दरबारी पुरोहितों के रूप में विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के प्रतिनिधियों के 'संग्रह' की प्रक्रिया में बघेल राजाओं ने वही किया जो भारत के राजे-महाराजे शताब्दियों तक करते रहे थे - अर्थात् अधिक से अधिक धार्मिक पुरोहितों-पुजारियों के आशीर्वचनों और धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से अपने शासन को सुदृढ़ करना। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म और अन्य अनेकानेक धार्मिक परंपराओं को बघेल राजाओं का संरक्षण बौद्ध धर्म के प्रति एक गंभीर वचनबद्धता की बजाय बौद्ध धर्म के साथ अवसरवादी अनुराग संबंध के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। किंतु, तारानाथ के लिए इस प्रकार के किसी गंभीर मूल्यांकन से उनकी दृष्टि में भारत में बौद्ध धर्म के उद्धारक के

दो सिद्धों को प्रदत्त बघेल राजाओं के संरक्षण को लेकर तारानाथ के कथन से ज्ञात होता है कि संभवतः वे बौद्ध धर्म के तांत्रिक स्वरूपों, या कम से कम उसके आनुष्ठानिक और सांस्कारिक पहलुओं, के प्रति अपने झुकाव का प्रदर्शन करते थे। किंतु, तारानाथ का मानना था कि किसी नितांत भिन्न पहलू को संरक्षण दिया जा रहा था

रूप में बघेल राजाओं की सच्ची भूमिका के प्रति न्याय नहीं होता, एक भूमिका जिसका वर्णन उन्होंने अतिशय बढ़ा-चढ़ाकर किया है। कथित रूप से उदार, किंतु निर्विवाद रूप से अतिरंजनापूर्ण, बौद्ध धर्म को प्रदत्त भारतीय राजाओं का यह संरक्षण 16 वर्षीय तारानाथ की दृष्टि में इस बात का संकेत था कि भारत में बौद्ध धर्म अभी भी जीवित था और पल-बढ़ रहा था।

किंतु, जिज्ञासा हो सकती है: 'वास्तव में बौद्ध धर्म के किस रूप को बघेल राजाओं का संरक्षण प्राप्त था? बौद्ध धर्म के किस रूप के वे समर्थक थे...यदि कोई था?'

ऊपर वर्णित दो सिद्धों को प्रदत्त बघेल राजाओं के संरक्षण को लेकर तारानाथ के कथन से ज्ञात होता है कि संभवतः वे बौद्ध धर्म के तांत्रिक स्वरूपों, या कम से कम उसके आनुष्ठानिक और सांस्कारिक पहलुओं, के प्रति अपने झुकाव का प्रदर्शन करते थे। किंतु, तारानाथ का मानना था कि किसी नितांत भिन्न पहलू को संरक्षण दिया जा रहा था, जो संभवतः अत्यधिक महत्वपूर्ण था। वस्तुतः, जैसा कि उस काल के अंतिम दिनों में भारत के बौद्ध धर्म की तारानाथ की कल्पना से ज्ञात होता है, वह मानते थे कि बघेल राजाओं के संरक्षण के फलस्वरूप भारत के बौद्ध धर्म को एक नवजीवन, या और भी सूक्ष्म रूप से कहें, तो पुनर्जीवन मिला और हताशा की जिस अवस्था में उसका समस्त भवन घिर चुका था, उससे वह स्वयं को निकाल पाया। अपने लिखित इतिहास ग्रंथों में तारानाथ ने बौद्ध धर्म के यथार्थ पतन के प्रति केवल एक आंशिक चेतना का वर्णन किया है। तारानाथ की दृष्टि में स्थिति की भयावहता, जिसका अधिकांश उनके गुरु और उनके गुरु के गुरु के प्रयास से विचार के लिए पुनः उन्हीं को भेजा गया, ऐसी थी कि उन सिद्धों को ही आगे बढ़कर पुनरुत्थान का कार्य करना पड़ा, क्योंकि उन्हें बघेलों का संरक्षण प्राप्त था।

जैसा कि तारानाथ के ग्रंथ *ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म इन इंडिया* में उल्लेख है, बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान का यह कार्य राजगढ़ के निकट इंद्रशीलगुहा के गुफा स्थल पर बघेल राजा रामचंद्र ने आरंभ किया था, जिसे तारानाथ 500 वर्षों के कालखंड में बौद्धों का सबसे बड़ा सम्मेलन मानते हैं। इसमें समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया के 2000 से अधिक मठवासियों को विधिवत धर्माचार्य बनाया गया। इस प्रकार पूर्ण रूप से दीक्षित 3000 मठवासियों और भारी संख्या में साधारण लोगों, जिनका वहाँ 3 वर्षों तक भरण-पोषण किया गया था, के प्रस्थान के बाद, कहा जाता है कि 5000 योगियों को 3 वर्षों तक राजकीय सहायता और असाधारण ढंग से उदारतापूर्वक आर्थिक दान दिया जाता रहा। (यदि गणना वस्त्र-परिधान के व्यय को अलग रख कर की जाए, तो उन पर आने वाला व्यय इस प्रकार हो सकता है: 3 वर्षों तक 6000 तोले चाँदी प्रतिदिन, इसके अतिरिक्त 5000 योगियों में से प्रत्येक के लिए 36 महीने तक चाँदी के 4 श्रैंग (तिब्बत की प्राचीन मुद्रा) और अन्य अवसरों पर 5000 योगियों में से प्रत्येक के लिए सोने की 10 मोहरें।)

विंध्य के पहाड़ी क्षेत्र में यथार्थतः बौद्ध धर्म के किस रूप का अनुसरण किया जा रहा था अनिश्चितता की एक भावना को भूलते हुए, तारानाथ उन लोगों की संख्या बताते हैं, जो उनके अनुसार धार्मिक चरित्रों के नितांत अस्वाभिक मेल में निहित समस्याओं पर स्पष्ट रूप से विचार किए बगैर उस सम्मेलन में मौजूद थे। इनमें पूर्णतः दीक्षित मठवासी, पंडित, उपासक और उपासिकाएँ, योगी, महापंडित, आचार्य, सिद्ध, योगिनियाँ आदि शामिल थे। दूसरे शब्दों में बौद्ध साधकों के इस पूर्णतः विषम और कभी-कभी अहितकर समूह में, बौद्ध धर्म की प्रायः

प्रत्येक बोधगम्य परंपरा के प्रतिनिधि शामिल थे और यह समूह किसी सच्चे यथार्थ की बजाय तारानाथ के आदर्श मनोभाव को प्रतिबिंबित करता है।

तारानाथ की दृष्टि में यह वास्तविक भारत था, एक स्थल जहाँ बौद्ध धर्म सच्चे अर्थ में कभी समाप्त नहीं हुआ और जहाँ राजा आश्रयदाता उसके भरण-पोषण के प्रति अभी भी असाधारण रूप से उदार थे।

इस अद्भुत अकल्पनीय प्रस्तुति से हमें तारानाथ की भारत की कल्पना के प्रति बहुत कुछ पता चलता है। सबसे बढ़कर यह कि यह बताती है कि बौद्ध धर्म के प्रति इस आशावादी दृष्टिकोण के वर्णन में, अपने गुरु के गुरु शांतिगुप्त से अपने प्रत्यक्ष संपर्कों के सहारे, तारानाथ ने स्वयं को कुशलतापूर्वक उस भारतीय बौद्ध धर्म के हृदय में सीधे 'स्थापित' कर दिया था, जिसे वह अभी भी जीवित मानते थे। उनकी अपनी और भारत के बौद्ध धर्म की अपेक्षाकृत अधिक अंतरंग सहभागिता, जिसकी प्रशंसा तारानाथ करते हैं, की कल्पना करना कठिन है।

तारानाथ हमें बताते हैं कि सन् 1601 में उन्हें राजा बालभद्र का एक पत्र मिला जिसमें राजा ने उस बालक को शांतिगुप्त के माध्यम से अपने संपर्क की याद दिलाई। पत्र में उल्लेख था कि कुछ अन्य सिद्धों की सहायता से राजा और तारानाथ दोनों का समस्त पूर्व जन्मों एक दूसरे से जुड़े थे।[4] तारानाथ ने इस पत्र का उत्तर राजा को दिया और उसमें विंध्य क्षेत्र में बौद्ध धर्म के अपने बूते पुनरुत्थान के अपने अनुभव का उल्लेख किया। उन्होंने लिखा कि '...महासिद्ध शांतिगुप्त के सभी शिष्यों ने राजा के दरबारी तांत्रिक साधकों के रूप में कार्य किया।'[5]

तारानाथ के लिए 'सीमा के दक्षिण' के एक संबंध के प्रति आकर्षण का हिस्सा वह मार्ग हो सकता है, जिसने उन्हें और भी अधिक और 'बेहतर' भारतीय सिद्धों और पंडितों से जोड़ने का एक मार्ग दिखाया, जिनके लिए उनके मन में स्पष्ट अनुराग था और जिन्होंने भारत के प्रति आसक्ति रखने वाले एक तिब्बती और उत्कृष्ट भारतीय शिक्षा के एक उत्तराधिकारी के रूप में उनकी ख्याति को और बढ़ाया। इस अर्थ में तारानाथ वही कर रहे थे जो तिब्बत के अन्य धर्माध्यक्षों ने वर्षों तक किया था - अर्थात, अपने वंश को अथवा अपनी शिक्षा पद्धति किसी विशिष्ट व्यक्ति अथवा शिक्षा प्रणाली से जोड़कर अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाना।

दूसरी तरफ 'सीमा के उत्तर' से संबंध ने संभवत: जाने-माने महत्वाकांक्षी और धन-संपन्न तिब्बती संरक्षक के साथ नया व्यवसाय शुरू करने में राजा बालभद्र की सहायता की। तारानाथ को लिखे राजा बालभद्र के पत्रों से जहाँ तक हमें पता चलता है, ये अपेक्षाएँ बहुत हद तक तारानाथ के उस प्रयास में निहित थीं, जो वह उनके लिए कर सकते थे। उन्हें तारानाथ के साथ ही व्यक्तिगत संबंध की आशा थी, किंतु मुझे लगता है कि वे संभवत: उनके कार्यालयों के माध्यम से ग्त्सांग के स्दे पा की संपत्ति हासिल करना चाहते थे। इस बात की पूरी संभावना है कि गोसाइयों अथवा अन्य भिक्षु-व्यापारियों की संस्थाओं की सहायता से यह संबंध कायम हुआ हो, किंतु वास्तव में हमें इसका कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलता, इसलिए यह पूरी तरह से काल्पनिक प्रतीत होता है।

सिद्ध, योगी और नव-आगत उपदेश

जैसा कि हमने देखा है, तारानाथ का भारत, अभी भी एक ऐसा देश था जहाँ बौद्ध धर्म अभी भी एक अहम शक्ति था, एक अति उदार राजाओं और चमत्कारी तपस्वियों से भरा देश। अपने तथाकथित 'ऐतिहासिक' ग्रंथों में इन राजाओं व तपस्वियों के जिन कार्यों का उल्लेख उन्होंने किया है, उनके कतिपय उदाहरणों में, वह इस बात को लेकर सहमत दिखाई देते हैं कि वे सब 16वीं-17वीं शताब्दी के दौरान भी भारत में एक सक्रिय और प्रभावशाली शक्ति थे। वस्तुत:, एक तांत्रिक भारत के प्रति तारानाथ की धारणा इतनी गहरी थी कि अपने ही संवेदन में उन्होंने स्वयं को भी एक वास्तविक भारतीय तपस्वी मानकर प्रस्तुत किया जबकि, अपने अंतिम दिनों तक, वह ग्त्सांग में एक ब्रह्मचारी जो नांग साधु बने रहे। तारानाथ के जीवन के कई चित्रों में, हम उन्हें भारतीय योगियों के एक समूह के केंद्र में बैठे पाते हैं। मानो वह वास्तव में उनके एक संगी थे। कहीं-कहीं ये योगी पूर्व जन्मों में तारानाथ के ही रूप-चित्र के रूप में दिखाई देते हैं।[6]

इसमें कोई संदेह नहीं कि कई शताब्दियों तक जिज्ञासु तिब्बतियों के साथ संबंध में 'नवीन' के प्रति आकर्षण को भारतीय भिक्षुओं ने ही प्रोत्साहित और प्रज्वलित किया। तारानाथ के मामले में, ऐसा प्रतीत होता है कि जिन तांत्रिक साधनाओं का 'भारत से तिब्बत आगमन अभी हाल में ही' हुआ था, संभव है कि उनमें से कई मिथ्या हों। यह सर्वज्ञात है कि विभिन्न भारतीय राजाओं की कृपा और आश्रय प्राप्त करने के अपने प्रयासों में नाथ भिक्षुओं ने हठ योग संप्रदाय की एक उप-धारा के साथ अर्ध-बौद्ध प्रबंधों का उपयोग शुरू किया था। किंतु, ये ग्रंथ संभवत: अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहे। उदाहरण के लिए, 27 वर्ष की आयु में, और जब वह पिछले 10 वर्षों से अपने गुरु के प्रभाव में ही थे, लिखित बुद्धगुप्तनाथ संतचरित में उन्होंने कुछ उन साधनाओं का उल्लेख किया, जिनकी शिक्षा उन्होंने अपने भारतीय गुरु से प्राप्त की थी। वह कहते हैं कि वे '...पहले लैंड ऑफ स्नोज के नाम से प्रसिद्ध इस क्षेत्र में जाने नहीं जाते थे...' फिर भी, उनके कथित चमत्कार के बावजूद हमें तारानाथ के बाद के लेखनों में उनके आगे प्रसार या उपयोग के उदाहरण नहीं मिलते, मानो उन्हें शायद तब त्याग दिया गया था जब देखा गया कि वे प्रामाणिक नहीं हैं। इससे निश्चय ही उनकी सत्यता पर कुछ संदेह होता है। यही नहीं, तिब्बत के

अपने तथाकथित 'ऐतिहासिक' ग्रंथों में इन राजाओं व तपस्वियों के जिन कार्यों का उल्लेख उन्होंने किया है, उनके कतिपय उदाहरणों में, वह इस बात को लेकर सहमत दिखाई देते हैं कि वे सब 16वीं-17वीं शताब्दी के दौरान भी भारत में एक सक्रिय और प्रभावशाली शक्ति थे

अन्य लामा इन ग्रंथों का उपयोग नहीं करते थे, या उन्हें किसी भी तरह से महत्वपूर्ण नहीं मानते थे। यहाँ तक कि तारानाथ के इतिहास लेखनों को, जिनमें से कई मुख्यत: उनकी भारतीय वंशावली के उन सिद्धों और योगियों पर केंद्रित थे, उनके समकालीन प्राय: महत्व नहीं देते थे।

जिस भारत का भ्रमण तारानाथ ने कभी नहीं किया था, उसके केंद्र में पुन: स्वयं को स्थापित करते हुए, उसके इन नवीनतम बौद्ध सिद्धांतों के प्रति उनका विश्वास दृढ़ था। उन्होंने कहा था:

'मेरा विश्वास है कि मैं संसार के इस भाग (फियोग्स 'दिर) का अति (एकमात्र???) भाग्यशाली व्यक्ति था, जो सभी शिक्षित भारतीय विद्वानों से प्राप्त सार-ज्ञान (ठग्स ब्क्युड) का उपयोग कर सका, और यह कि मैंने सभी असाधारण गूढ़ शब्द (सिद्धांत) ग्रहण कर लिए हैं, जिनके अर्थ पर मेरा आधिपत्य आरंभ में ही हो चुका था।'[7]

फिर भी प्रश्न पूछा ही जाना चाहिए, 'तारानाथ का शिक्षा की एक प्रामाणिक, जीवंत भारतीय तांत्रिक बौद्ध परंपरा, जो केवल उन्हें मिली थी, का स्वयं को एक उत्तराधिकारी मानना कितना सही था'?

उन्हें 'नवीन सिद्धांत' के रूप में प्रस्तुत करते समय, तारानाथ खास तौर पर इन घटनाओं के विस्तृत विवरण पर इसके अतिरिक्त स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहते, कि उन्हें समझना उनके लिए कितना कठिन था। एक कार्य जो अभी भी बाकी है, वह है तारानाथ के रचना संग्रह का, उदाहरणस्वरूप उन ग्रंथों या पाठ्यवस्तुओं का अनुशीलन जिनके बारे में दावा किया जाता है कि वे उस युग के अंतिम काल में भारत से आई थीं। इससे इस बात का ठीक-ठीक पता चल सकता है कि इस सामग्री में कौन-कौन से विषय समाहित थे। मेरे आरंभिक अनुशीलन से यह स्पष्ट हुआ है कि उनमें से कई ऐसी रचनाओं में बौद्ध शिक्षा में आगे चलकर हुए किसी भी विकास का उल्लेख नहीं मिलता, जिनसे तारानाथ के अनुसार कुछ महत्वपूर्ण नवीन घटना पर प्रकाश डालने की अपेक्षा की जा सकती थी, जैसे वज्रसुमार्ग (तिब्बती में ग्रब शेन झी बस बस प'ई ठग्स ब्क्युड ब्का' बब्स ब्दुन ल्दन ग्यी ग्झुंग दों जें'इ लम ब्जंग पो) और ब्क' बब्स द्रुग ल्दान ख्रिद यिग 'फग्स युल ग्रुब प'इ झल लंग।[8]

हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि तारानाथ की धार्मिक शिक्षा से उन्हें भारतीय बौद्ध धर्म की मुख्य घटनाओं और विचारधाराओं का एक व्यापक और गंभीर ज्ञान प्राप्त हुआ।

किंतु तिब्बत से भारत को तीर्थायात्रा, जो 14वीं शताब्दी के मध्य तक पूर्णत: बंद हो चली थी, के एक अति महत्वपूर्ण युग के बाद की शताब्दियों में अनेकानेक अन्य तिब्बतियों की भाँति उन्हें भी बहुत ही कम प्रामाणिक, विश्वसनीय सामग्री मिल पाई थी। उनके भारतीय सिद्ध अभ्यागतों ने उन्हें उनके अनुसार बौद्ध धर्म की जन्मभूमि की वीथियों में हुए उसके विकास की नीवनतम घटनाओं की जानकारी दी।

इसी के आधार पर तारानाथ ने कुछ-कुछ भावनापरक ऐतिहासिक निबंध लिखे। और खास तौर पर इन्हीं आधारों पर लिखित उनकी ज्यादातर रचनाएँ त्रुटिपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, तारानाथ के सुव्यवस्थित ढंग से परिभाषित कालों के वृत्तांतों, जिनमें उन्होंने बौद्ध धर्म का यत्र-तत्र-सर्वत्र वर्णन किया, से पता चलता है कि उन्होंने उस प्राच्य मत को अपनाए रखा जिसे बौद्ध धर्म के इतिहास के साफ-सुथरे, लगभग अभेद्य उपखंडों में वर्गीकृत किया गया था। दूसरे शब्दों में, तारानाथ की दृष्टि में बौद्ध धर्म को स्वच्छ, तर्कसिद्ध और अकलुषित होना चाहिए। इसमें किसी प्रकार के अवरोध की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती। भारत के इस आश्चर्यजनक देश में कार्यक्रमों और विचारधाराओं का एक दूसरे में प्रवाह अनवरत चलता रहना चाहिए। वस्तुत:, बौद्ध धर्म ऐसा न तो कभी था और संभवत: न कभी होगा!

तिब्बत से भारत को तीर्थायात्रा, जो 14वीं शताब्दी के मध्य तक पूर्णत: बंद हो चली थी, के एक अति महत्वपूर्ण युग के बाद की शताब्दियों में अनेकानेक अन्य तिब्बतियों की भाँति उन्हें भी बहुत ही कम प्रामाणिक, विश्वसनीय सामग्री मिल पाई थी। उनके भारतीय सिद्ध अभ्यागतों ने उन्हें उनके अनुसार बौद्ध धर्म की जन्मभूमि की वीथियों में हुए उसके विकास की नीवनतम घटनाओं की जानकारी दी

तिब्बती आश्रयदाता और आश्रय

तारानाथ के ग्त्सांग के उच्छृंखल संसार में कई प्राचीन अभिजात परिवार अब सत्ता में नहीं रह गए थे, और इसीलिए अब वे उदारतापूर्वक आश्रय नहीं दे सकते थे। तारानाथ को भान हो चला था कि उन्हें अपने लिए प्रभावशाली आश्रयदाताओं की तत्काल आवश्यकता है, ऐसे आश्रयदाता जिनका भाग्य उत्कर्ष पर था, और जो उन्हें उसी प्रकार दान दे सकते थे, जिस प्रकार बघेल राजाओं ने शांतिगुप्त को किया था।

एक महत्वाकांक्षी युवा साधु के लिए, जिनकी साधु परंपरा कुछ हद तक संदेहास्पद थी, कुछ विशिष्ट करने की तत्काल जरूरत थी, कुछ ऐसा जो उन्हें अन्य महत्वाकांक्षी पुरोहितों-पुजारियों से अलग करता और जो उनकी स्थिति को हर संकट से बचाए रखता। दूसरे शब्दों में, एक बौद्ध 'व्यवस्था'। कुछ धर्माध्यक्षों के लिए यह विशिष्ट पक्ष विशिष्ट आनुष्ठानिक ज्ञान हो सकता था, अन्यों के लिए यह एक अवगुणरहित संत कुलपरंपरा थी।

तारानाथ के लिए यह उनका विस्तृत भारत ज्ञान और भारत में सिद्धों से उनके अंतिम संपर्क थे, जिन्होंने उन्हें प्रतिष्ठा और उनके नए ग्त्सांग आश्रयदाताओं के साथ सुदृढ़ भविष्य के अवसर प्रदान किए।

उनके भारतीय गुरुओं से उन्हें जो शिक्षा मिली थी उस पर उनकी मजबूत पकड़ और नियंत्रण उनकी विशाल आत्मकथा की एक घटना में स्पष्ट दिखाई देता है। वह कहते हैं,

"स्ताग लंग (विहार) के मठाधीश ने कहा 'क्योंकि भारत में प्रतिपादित इन नए सिद्धांतों के सभी असंख्य ग्रंथों को समझना कठिन है, इसलिए आपको उन सबका एक सार-संक्षेप और रूप-रेखा (स ब्कैड) तैयार करनी चाहिए।" हालाँकि मैं उन पुस्तिकाओं पर तत्काल कार्य आरंभ करना चाहता था, किंतु अपने ही आलस्य और दैनिक प्रार्थनाओं के मेरे अपने चक्र के चलते, मैं उस पर

कुछ अधिक नहीं कर सका। शशक (चीनी राशिमंडल के 12 वर्षीय चक्र की चतुर्थ राशि) वर्ष (सन् 1603, जब वह 28 वर्ष के थे) में मुझे ऐसा करने के लिए उनके प्रेरक विचार स्मरण हो आए, इसलिए मैंने उन ग्रंथों में से प्रत्येक की एक रूप-रेखा तैयार की।[9]

स्तग लंग रिन पो शे के अनुसार, ये 'नए सिद्धांत' व्यवहार्य हों इसके लिए इनकी टीकाएँ होनी चाहिए, और तारानाथ ने दावा किया था कि उनके इन ग्रंथों के विशिष्ट ज्ञान की सहायता से उन्हें इन टीकाओं की कुंजी भारतीय आगंतुकों से मिली थी। यहाँ हमें मान लेना चाहिए कि जिसे वह उनके लिए विभिन्न स ब्कैड की रूपरेखा तैयार करने की अपनी क्षमता कहते हैं, उससे इस बात का कुछ साक्ष्य मिलता है कि वस्तुत: कुछ नई घटनाएँ हुई होंगी, जिनकी गुप्त जानकारी उन्हें उनके भारतीय सूत्रों से मिली थी। हम यह भी पाते हैं कि उन्होंने उन पर भी चतुराई से कुछ 'व्यक्तिगत अधि कार' बनाए रखा, उन पर अपने लेखन में जो विलंब उन्होंने किया उससे इस उद्देश्य की पूर्ति होती है।

स्पष्ट है कि यहाँ तारानाथ अपने लिए एक 'उप बाजार' तैयार करने का प्रयास कर रहे थे। इन 'नए' विषयों की व्याख्या करने में उनकी सहायता के लिए स्तग लंग रिन पो शे के आग्रह का उत्तर देने में जो विलंब उन्होंने किया उससे पता चलता है कि अपने सहजात आलसी स्वभाव और उसके उलट कार्य की अधिकता के प्रति क्षोभ प्रकट करने के बावजूद तारानाथ उन विषयों का प्रसार नहीं करना चाहते थे। यदि तारानाथ ने नियम पुस्तिकाएँ लिखने में जल्दी की होती, जिसका आग्रह स्तग लंग रिन पो शे ने उनसे किया था, तो उन पर उनका नियंत्रण नहीं रह जाता। रिन पो शे के आग्रह के इस तथ्य से, यह स्पष्ट हो जाता है कि तारानाथ के विशिष्ट 'भारतीय ज्ञान' के साथ ऐसा कोई नहीं था जो इन विषयों की व्याख्या कर सकता। इन विषयों पर इस व्यक्तिगत एकाधिपत्य के बल पर तारानाथ की शक्ति, प्रतिभा में और वृद्धि हो गई और वह अपने, और संभवत: अन्यों के, आश्रयदाताओं के लिए और भी अधिक आवश्यक 'वस्तु' बन गए।

स्पष्ट है कि यहाँ तारानाथ अपने लिए एक 'उप बाजार' तैयार करने का प्रयास कर रहे थे। इन 'नए' विषयों की व्याख्या करने में उनकी सहायता के लिए स्तग लंग रिन पो शे के आग्रह का उत्तर देने में जो विलंब उन्होंने किया उससे पता चलता है कि अपने सहजात आलसी स्वभाव और उसके उलट कार्य की अधिकता के प्रति क्षोभ प्रकट करने के बावजूद तारानाथ उन विषयों का प्रसार नहीं करना चाहते थे

उपसंहार

इस प्रबंध में इसकी मूल पुस्तक से अपेक्षाकृत अधिक प्रश्न पूछे गए हैं। यहाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न प्रस्तुत है:

- भारत के प्रति तारानाथ की सोच कितनी यथार्थवादी थी और क्या वह वास्तव में मानते थे कि वहाँ बौद्ध धर्म के पुनर्विकास में उनकी कोई भूमिका थी?

इससे कई और प्रश्न उठते हैं जो सब के सब पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

-भारत के प्रति अपनी घोषित संवेदनशीलता के होते हुए भी अपनी 21 से 59 वर्ष आयु के बीच अर्थात् अपने जीवन में बहुत विलंब से अपनी आत्मकथा लिखने के समय तक अपने भारतीय सूत्रों के प्राय: अन्य समस्त संदर्भ का उल्लेख तारानाथ ने क्यों नहीं किया?

-उनकी अंतिम रचना, उनकी आत्मकथा भारत के प्रति उनकी संस्मरणों और उसके साथ उनकी अंतरंगता के कुछ प्रबल स्वाग्रहों के लिए एक प्रतिमान (आधिकारिक और अकसर दृष्टांत के रूप में प्रस्तुत की जाने वाली कृति) क्यों बन गई?

-तारानाथ के जीवन के अंतिम दिनों में भारत के लिए उनके मन में कल्पनाओं का फिर से पनपना क्या उनके आश्रयदाताओं ग्त्सांग स्दे पा के प्रति उनके विशिष्ट भाव को सुदृढ़ बनाने और उनकी दानशीलता सुनिश्चित करने तथा उनकी मृत्यु के बाद उनकी संत कुलपरंपरा को बनाए रखने के उनके सरोकार का एक साधन था?

इन सबका समाधान केवल तारानाथ के कई लेखनों के विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन से होगा, एक कार्य जो, मुझे आशा है, इस जटिल और कभी-कभी विरोधाभासी लगने वाले व्यक्ति के प्रति अपेक्षाकृत अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण तय करने के इच्छुक अन्य विद्वानों को आकर्षित करेगा।

साभार: *द टिबेट जर्नल*, खंड 34/35, अंक 3/2, शरत् 2009-ग्रीष्म 2010

संदर्भ ग्रंथ सूची:

तिब्बती ग्रंथ

टीएआरए1 (तर1)। (2000) तारानाथ
(1575-1634) ब्का' बब्स ब्दुन ल्दान ग्यी ब्रग्युद पा'इ र्नम थर न्गो स्तषर मंदि दु ब्युंग ब रिन पो शे'ई खुंग्स ल्त बु'ई ग्तम। र्जे ब्त्सुन ता र ना थ'ई ग्संग 'बम, जमथंग संस्करण, खंड 17। कैंब्रिज, मास। तिब्बतन बुद्धिस्ट रिसोर्स सेंटर। टेंपलमैन के रूप अनूदित (1983)

टीएआरए4। (2000) तारानाथ
(1575-1634) ग्संग ब' ई र्नम थर। र्जे ब्त्सुन ता र ना थ'ई ग्संग 'बम, जमथंग संस्करण, खंड 1। कैंब्रिज, मास। तिब्बतन बुद्धिस्ट रिसोर्स सेंटर।

टीएआरए5। (2000) तारानाथ
(1575-1634) स्रोल म'ई र्गुद क्यी ब्युंग खुंग्स ग्सल बर ब्ये डप'ई लो र्गुस ग्सेर ग्यी फ्रेंग ब। र्जे ब्त्सुन ता र ना थ'ई ग्संग 'बम, जमथंग संस्करण, खंड 12। कैंब्रिज, मास। तिब्बतन बुद्धिस्ट रिसोर्स सेंटर। टेंपलमैन शीर्षक से अनूदित (1995)

टीएआरए6 (2000) तारानाथ
(1575-1634) दम प'ई चोस रिन पो शे 'फैंग्स प'ई युल दु जी ल्तर दर ब'ई त्शुल ग्सल बर स्तोन प द्गोस कुन 'ब्युंग। दि कलेक्टेड वर्क्स ऑफ जो-नज र्जे-ब्त्सुन तारानाथ, फुन-त्शोग्स-ग्लिज संस्करण,

खंड 16। स्मन्त्रत्सिस शेम्रिग पेमजोद। लेह, लद्दाख। सी. नमग्याल एवं त्सिवंग तरु।

टीएआरए7। (2000) तारानाथ
(1575-1634) स्लॉब पॉन चेन पो स्पियॉड 'चौंग बैंग पो'ई र्नम थर न्गो म्तशर स्न्यान प'ई स्त्र ब्यांग्स एवं ग्रंथ का परिशिष्ट।
जें ब्त्सुन ता र ना थ'ई ग्संग 'बम, जमथंग संस्करण, खंड 17।
कैंब्रिज, मास। तिब्बतन बुद्धिस्ट रिसोर्स सेंटर। टेंपलमैन शीर्षक से अनूदित (1989)

यूरोपीय ग्रंथ
एरिस, एम. (1995) 'जिग्स - मेड - ग्लिंग - प'स ''डिस्कोर्स ऑन इंडिया'' ऑफ 1789। ए क्रिटिकल एडिशन एंड एनोटेड ट्रांसलेशन ऑफ दि ल्हो - फ्योग्स - र्ग्य - गर - ग्यि ग्तम ब्रतग - प ब्रग्यद - क्यि मी लांग। टोक्यो इंटरनेश्नल इंस्टिच्यूट ऑफ बुद्धिस्ट स्टडीज (तोक्यो अंतरराष्ट्रीय बौद्ध अध्ययन संस्थान)। (स्टडी फिलॉलॉजिका बुद्धिका, ओकेजनल पेपर (सामाजिक निबंध), क्रम 1एक्स) चिंपा, लामा एवं चट्टोपाध्याय, ए. (1990) तारानाथ्स हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म इन इंडिया। दिल्ली। मोतीलाल बनारसीदास।

हूबर, टी. (2008) दि होली लैंड रीबॉर्न: पिलग्रिमेज एंड दि तिब्बतन रीइन्वेंशन ऑफ इंडिया। शिकागो। यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस (शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस)।

जैक्सन, डी. 22005। 'स्पुरेन तारानाथ्स अंड सीनेर प्राएग्जिस्टेंजेन: मैलेरीइन ऑस देर जो नंग पा - शूले देस तिबेत्सिशेन बुद्धिस्मस।' दी वेल्ट देस तिबेत्सिशेन बुद्धिस्मस। हैमबर्ग: म्यूजियम फूर फोल्करकुंदा।

शीफनर, ए. (1868) तारानाथे दे दोक्ताइनी बुद्धिका इन इंडिया प्रोपैगेशनी। पेट्रोपोली (संत पीटर्सबर्ग)। इंप. एकेडेमिया साइन्टेरियम पेट्रोपोलिताने।

- (1869) तारानाथ्स जेशिश्ते देस बुद्धिस्मस इन इंडिएन। संत पीटर्सबर्ग। एगर्स एंड कं. कमिसनाएर देर कैजरलिशेन एकेडमी देर विस्सेनशाफ्टेन।

टेंपलमैन, डी। (1983) तारानाथ्स ब्क' बब्स ब्दुन ल्दन; दि सेवेन इन्स्ट्रक्शन लिनिएज, जो नंग। तारानाथ। धर्मशाला। लाइब्रेरी ऑफ तिब्बतन वर्क्स एंड आर्काइव्स।

- (1989) तारानाथ्स लाइफ ऑफ कृष्णाचार्य/काण्ह। धर्मशाला। लाइब्रेरी ऑफ तिब्बतन वर्क्स एंड आर्काइव्स।

- (1989) (प्रथम संस्करण 1981) तारानाथ्स दि ऑरिजिन ऑफ तारा तंत्र। धर्मशाला। लाइब्रेरी ऑफ तिब्बतन वर्क्स एंड आर्काइव्स।

वसिल'एव, एन.पी. (1869) बुद्धिज्म: ईगो डॉगमैटी, इस्टोरिया आई लिटरेटुरो। भाग 3। इस्टोरिया बुद् धज्म वी. इंडी, सोशिएनी दरन्ती। संत पीटर्सबर्ग।

संदर्भ

1 मूल पाठ टीएआरए6। अनुवाद: वैसिल'एव (1869); शीफनर (1869/1869); चिंपा (1990)
2 इन ग्रंथों में शामिल हैं: ब्क' बब्स ब्दुन ल्दन (टीएआरए1, सन् 1600 में लिखित); जें ब्त्सन स्ग्रोल म'ई र्ग्युद क्यी 'ब्युंग खुंग्स (टीएआरए1, सन् 1600 में लिखित); स्लॉब द्पॉन स्पयोद 'चौंग चौंग पो' आई मम थर (टीएआरए7, 1632 में लिखित)
3 इन घटनाओं का टीएआरए 3 उल्लेख में हुआ है (घटना 1 पृ. 17, पंक्ति 6; घटना 2, पृ. 20, पंक्ति 2-6; घटना 3, पृ. 21, पंक्ति 1-3; घटना 4, पृ. 21, पंक्ति 1-2 और पृ. 37, पंक्ति 4-6; घटना 5, पृ. 54, पंक्ति 6)
4 टीएआरए3, पृ. 102, पंक्ति 1-4
5 टीएआरए 3, पृ. 102, पंक्ति 5-6
6 जैक्सन, डी. 2005। 'सुप्रीम तारानाथ्स अंड सीनेर प्रैग्स्टिंजेन: मैलेरीन ऑस देर जो नंग पा - शूल देस तिबेत्सिशेन बुद्धिज्मस।' दी वेल्ट देस तिबेत्सिशेन बुद्धिज्मस। हैमबर्ग: म्यूजियम फूर फोल्करकुंदे।
7 टीएआरए 3। पृ. 123, पंक्ति 1-3।
8 सम्मेलन के समय से, जिसमें यह निबंध प्रस्तुत किया गया, मैंने वज्रसुमार्ग और योगसंक्षेप का अनुवाद किया है और मुझे प्रत्यक्षत: जो मिला है वह है हठ योग का नवीकृत रचना विधान तथा महामुद्रा के मूलतत्व।
9 टीएआरए 3। पृ. 124, पंक्ति 6-7।

धार्मिक जीवनशैली

तिब्बत के लोग अपने सदियों से चले आ रह रीति-रिवाजों, शिष्टाचार की मर्यादाओं और औपचारिक बातो का कठोरता से पालन करते है। छोटे-बड़ों के साथ व्यवहार करने, परस्पर वार्तालाप के संबोधनों तथा उत्सवो एवं पर्वों पर पहनने की वस्तुओं आदि के बने नियमों और चले आ रहे व्यवहारों का पालन करना अब उनके धर्म का ही अंग है। लामा पीला टोप पहनते हैं और बाकी बचे हुए दस प्रतिशत लोगो में लाल टोप पहनने की प्रथा है। तिब्बत के प्रत्येक परिवार के एक व्यक्ति लामा बन जाता है। यह मठ में रहकर शांत और एकांत जीवन व्यतीत करते हैं। साधारण लामाओं के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे अविवाहित ही रहें। वे विवाह कर सकते हैं और गृहस्थ जीवन व्यतीत कर सकते हैं। ये लोग मूर्तियां और चित्र आदि बनाकर धनोपार्जन करते हैं। ■

इष्ट देव सांकृत्यायन

तिब्बती परंपरा में महासिद्ध एवं भारत के नाथ

तिब्बत के जनजीवन में महासिद्धों का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। चौरासी महासिद्धों की सूची में नाथयोगियों को अत्यधिक सम्मान दिया गया है। तिब्बत के जनजीवन से वे किस प्रकार जुडे हैं और उसमें उनकी क्या भूमिका रही, प्रस्तुत है इसका एक संक्षिप्त विवेचन

गुरु गोरखनाथ पूरब के ज्ञानाकाश के उन सर्वाधिक देदीप्यमान नक्षत्रों में से एक हैं, जिन्हें पूरब की सभी आध्यात्मिक परंपराओं में समान आदर दिया जाता है। वह चाहे सनातन धर्म हो, अथवा जैन, बौद्ध या फिर सिख। ओशो गुरु गोरखनाथ को दिक्काल के चार आयामों[1] में से एक मानते हैं, जिसकी किसी भी स्थिति में अनदेखी नहीं की जा सकती। यही कारण है कि नाथ संप्रदाय के संस्थापक होने के बावजूद उन्हें तिब्बत की महासिद्ध परंपरा में भी समान आदर प्राप्त है। वैसे नाथ संप्रदाय कुछ अन्य नामों से भी जाना जाता है[2] और वे हैं सिद्ध मत, सिद्ध मार्ग, योग मार्ग, योग संप्रदाय, अवधूत मत, अवधूत संप्रदाय आदि। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार इसे योग मार्ग अथवा योग संप्रदाय कहना उचित ही है, क्योंकि इस पंथ का मुख्य कार्य योग का अभ्यास करना है।[3]

वे मानते हैं कि वास्तव में नाथ ही सिद्ध हैं, यही कारण है कि वे अपने पंथ को सिद्ध मत अथवा सिद्ध मार्ग भी कहते हैं। इस पंथ के सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथों में से एक *सिद्ध सिद्धांत पद्धति*, जिसे काशी के बलभद्र पंडित ने संक्षेप में प्रस्तुत किया है, जिसका *सिद्ध सिद्धांत संग्रह* के नाम से प्रकाशन हुआ है। इन ग्रंथों के शीर्षक से पता चलता है कि यह पंथ एक लंबे समय तक सिद्ध पंथ के नाम से जाना जाता रहा है।

अब, प्रश्न उठता है कि क्या कुछ अन्य पंथों की तरह क्या यह भी एक पर्यायमात्र है, अथवा एक संयोग या फिर एक थोथा दावा मात्र। नहीं, नाथों और महासिद्धों के संदर्भ में ऐसा नहीं है। इसके पीछे के कारणों में से एक नाथ और सिद्ध शब्दों का अर्थ है और दूसरा यह कि ये दोनों पंथ वस्तुतः एक दूसरे से अंतर्संबंधित हैं। जहां तक अर्थ का संबंध है, इन दोनों शब्दों का मूल एक ही अर्थात् 'संस्कृत' और ऐतिहासिकता भी एक ही है। इनमें, शब्द 'सिद्ध' का तात्पर्य एक ऐसे व्यक्ति से है जिसने आत्मिक बोध और अलौकिक शक्ति प्राप्त कर ली हो[4]; या एक ऐसा व्यक्ति जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली हो; एक संत[5]; या वह जिसने विशेष रूप से गुह्य शक्तियों द्वारा निर्दिष्ट सिद्धि प्राप्त कर ली हो[6]। नाथ शब्द से हमें भगवान, स्वामी अथवा अधिकारी आदि[7] का भान होता है। जैसा कि कहा गया है, नाथ उसे ही कहा जा सकता है जिसने सिद्धि (आत्मबोध का अपना लक्ष्य) प्राप्त कर ली हो। और दूसरा, कई नाथों के नाम महासिद्धों की सूची में और कई महासिद्धों के नाम नाथों की सूची में शामिल पाए जाते हैं।

नाथों को सनातन धर्म के शैव संप्रदाय से और महासिद्धों को बौद्ध मत से जोड़ा गया है। समस्त भारतीय प्रायद्वीप के चिंतन और जीवन पर इन दोनों संप्रदायों का प्रभाव है, जिनके मूल उत्तर भारत में हैं। भारत में नाथ परंपरा का तेजी से विकास हुआ और उसकी जड़ें गहरे तक जमी हुई थीं।

इसके दायरे में न केवल हिंदू, बल्कि मुसलमान भी आए। तिब्बत में नाथ परंपरा के अधिकांश संतों को महासिद्धों के रूप में सम्मान दिया जाता है, क्योंकि महासिद्ध परंपरा बौद्ध धर्म की एक उप धारा सहजयान के छत्र के नीचे अक्षुण्ण बनी रही। त्रिविष्टप (तिब्बत) के लोगों ने अपनी धरोहर के रूप में इस परंपरा को जीवित रखा। ऐसा इसलिए है क्योंकि तिब्बत के जनजीवन में महासिद्धों की दी हुई सीख और समाज में उनके योगदान की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही।

नवनाथ परंपरा

नाथ परंपरा में दिव्य शक्तियों से संपन्न अनेक संत हैं, किंतु इनमें नौ मुख्य हैं जिन्हें नव नाथ कहा जाता है। उन्हें इस पंथ का संस्थापक माना जाता है। जैसा कि पंडित लक्षण रामचंद्र पंगारकर ने ज्ञानेश्वेर चरित्र में कहा है, नाथों की गुरु परंपरा[8] इस प्रकार है :

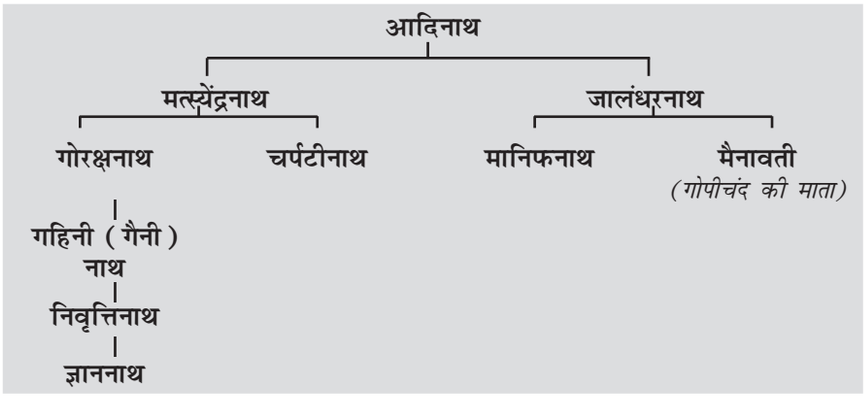

हालांकि इस संप्रदाय के भीतर कई उप-परंपराएं हैं, वे बारहपंथ के नाम से जानी जाती हैं, और इसीलिए इन नवनाथों की कई सूचियां हैं। इन नवनाथों की परंपरा की कोई एकमत सूची नहीं है, फिर भी ये नाम सभी सूचियों में एक समान पाए जाते हैं। ये हैं - आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, जालंधरनाथ और गोरक्षनाथ अथवा गोरखनाथ। इनके अतिरिक्त, अन्य महत्वपूर्ण नाम हैं - चौरंगीनाथ, कान्हड़ीनाथ, कोरंटकनाथ, चर्पटीनाथ, सुरानंदनाथ, कनेरीनाथ, नित्यनाथ, निरंजननाथ, कपालीनाथ, बिंदुनाथ, काकचंडीश्वरनाथ, मायानाथ, अक्षयनाथ, प्रभुदेव, घोड़ाचूलीनाथ, टिंढिड़ीनाथ, भल्लरीनाथ। माना जाता है कि ये नाथ अमर हैं और आज भी ब्रह्मांड में विचरण कर रहे हैं। ये नवनाथ इस अर्थ में महत्वपूर्ण हैं कि उन्हें इस पंथ का संस्थाापक माना जाता है।

सहजयान एवं महासिद्ध

दूसरी तरफ, महासिद्धों की संख्या 84 है। हालांकि, कुछ विद्वानों का मानना है कि इस संख्या के निर्धारण के पीछे एक कारण है। प्रत्येक पंथ ने अपनी संख्या अधिक से अधिक बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने का प्रयास किया है और इस क्रम में उन्होंने अन्य पंथों के प्रभावशाली संतों को भी अपनी सूची में शामिल कर लिया[9]। सिद्ध परंपरा वस्तुत: वज्रयान से निकली है और वज्रयान स्वयं महायान के ही विकास का एक चरण है। जो लोग मठ के अपेक्षित अनुशासन और महायान के हठ को बरकरार नहीं रख पाए, वे धीरे-धीरे तंत्र पद्धति की इस शाखा में चले आए। इस तथ्य के कई प्रमाण हैं। त्रिसमय राज की प्रथा में स्पष्ट उल्लेख किया गया है, ''अनया मंत्री महायान परिहीयते''[10]। महायान का विकास वज्रयान के रूप में हुआ और फिर आगे चलकर वह सहजयान में बदल गया।

यही वह समय था, जब उत्तर भारत में सहजयान वज्रयान से और नाथ पंथ शैव पंथ से अंकुरित हो रहा था। भारत में उस समय तंत्र की एक प्रबल लहर ने अध्यात्म की सभी प्रथाओं को अपने दायरे में समेट लिया था। वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध सभी इससे प्रभावित थे और प्रत्येक का एक दूसरे पर किसी न किसी रूप में प्रभाव था[11]। इस लहर का प्रभाव वज्रयान पर भी पड़ा और उससे सहजयान धारा का जन्म हुआ। असंख्य सहजयानी हिंदू धर्म की पारंपरिक शाखाओं, अर्थात् वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म और शैव धर्म की ओर बढ रहे थे[12]। सिद्धगण, जिन्हें आगे चलकर महासिद्ध कहा गया, बौद्ध धर्म में इसी परंपरा से निकल कर आए और उन्होंने विभिन्न भारतीय परंपराओं को अपनी परंपराओं के रूप में अपना लिया[13]। यही कारण है कि ब्रिग्स इसे एक धर्मांतरण के रूप में देखते हैं और मत्स्येंद्रनाथ के विषय में साधिकार कहते हैं कि पश्चिम बंगाल में इसका एक प्रमाण है[14] जो सिद्ध करता है कि मत्स्येंद्रनाथ नाथ संप्रदाय के एक गुरु थे, जिन्होंने गोरखनाथ को बौद्ध से शैव बनाया। वस्तुत:, उनका पश्चिमी मानस इसे भारतीय आध्यात्मिकता की सहज यात्रा के रूप में स्वीकार ही नहीं कर सकता था। एक ऐसी यात्रा जिसमें सभी मतों के सभी संतों के विचारों को समस्त समाज में समान आदर प्राप्त होता था। उन्हें तो यह पता ही नहीं था कि भारतीय आध्यात्मिकता का यही आधार है।

जादुई शक्तियों का प्रभाव

ये सभी महासिद्ध और नाथ योगी होने के साथ-साथ महान् तांत्रिक भी थे। तिब्बत में बौद्ध धर्म वस्तुत: महायान के रूप में ही पहुँचा, तिब्बती साम्राज्य (7वीं से 9वीं शताब्दी ई.) के दौरान। हालांकि राजा लांगदर्मा के शासनकाल में ही तिब्बत में बौद्ध मत का प्रभाव घटने लगा। 842 ई. में उनके निधन के बाद विघटन का दौर शुरू हुआ और 9वीं-10वीं शताब्दी के दौरान तिब्बत की ताकत के साथ-साथ वहाँ बौद्ध प्रभाव भी बिखरता चला गया।

पूर्व के तिब्बती साम्राज्य के केंद्रीकृत प्रभाव का विघटन हो गया और गृहयुद्ध छिड़ गए। इसी काल में तिब्बत के पारंपरिक बॉन ध र्म के जादुई शक्तियों वाले पुरोहितों-पुजारियों को सिर उठाने का एक अवसर मिल गया। उन्होंने लोगों पर अपनी शक्ति का प्रभाव डालना शुरू कर दिया और लोग अपनी समस्याओं के समाधान के लिए उनके पास दौड़ने लगे। किंतु, राज्य की शक्ति और सरंक्षण के इस ह्रास के बावजूद, बौद्ध धर्म तिब्बत में अस्तित्वमान रहा और फलता-फूलता रहा। ज्यॉफ्रे सैम्युएल के अनुसार ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि "तांत्रिक (वज्रयानी) बौद्ध भिक्षु भी जादुई युक्तियां लेकर आए जिनका उपयोग तिब्बतियों ने आत्मादओं की दुनिया की खतरनाक शक्तियों का सामना करने के लिए किया... इस तरह वज्रयानी अनुष्ठायनों के रूप में वहाँ बौद्ध धर्म ने दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए रहस्यमय विधियां दीं। इन क्रियाओं को तिब्बतियों ने इस जीवन में अपनी उत्तरजीविता और समृद्धि के लिए कारगर पाया।"[15] इसमें स्थानीय देवताओं और आत्माओं (सदक और शिपदक) की कृपाप्राप्ति भी शामिल थी, जिस पर कुछ बौद्ध लामाओं और ले न्पांपों (मांत्रिकों, मंत्र विशेषज्ञों) का अधिकार हो गया।[16]

चौरासी महासिद्ध

इस प्रकार, सहजयान हिमाच्छादित पर्वतों में रहने वाले तिब्बती लोगों के हृदय में रच-बस गया। हालांकि राहुल सांकृत्यायन का मत है कि सरह सभी सिद्धों में प्रथम हैं, किंतु सिद्धों की अधिकांश सूचियों से इस तथ्यो की पुष्टि नहीं होती। लोकविश्वास के अनुसार इस संप्रदाय के संस्थापक लुयिपा हैं और 84 सिद्धों[17] का क्रम इस प्रकार है :

1. लुयिपा
2. लीलापा
3. विरुपा
4. डोंबिपा
5. शबरिपा
6. सरह
7. कंकड़ीपा
8. मीनपा
9. गोरक्षपा
10. चौरंगीपा
11. वीणापा
12. शांतिपा
13. तंतिपा
14. चमरिपा
15. खड्गपा
16. नागार्जुनपा
17. कान्हपा
18. कर्णरिपा
19. थंगनपा
20. नरोपा
21. शालिपा
22. तिलोपा
23. चत्रपा
24. भद्रपा
25. खंडिपा
26. अजोकिपा
27. कलपा
28. धोंबिपा
29. कंकना
30. कंबल
31. तेंगिपा
32. भंदेपा
33. तंदेपा
34. कुक्कुरिपा
35. कुचिपा
36. धर्मपा
37. महिपा
38. अचिंत
39. बभहि
40. नलिन
41. भुसुकु
42. इंद्रभूति
43. मोकोपा
44. कोटली
45. कम्हरिपा
46. जालंधरी
47. राहुल
48. धर्मपा
49. ढांकरिपा
50. मेदिन
51. पंकज
52. घंडपा
53. योगिपा
54. चलुकि
55. गोरुर
56. लुचिक
57. निगुण
58. जयानंद
59. पचरि
60. चंपक
61. भिक्षण
62. तेलोपा
63. कुमरिपा
64. चपरिपा
65. मणिभद्रा
66. मेखला
67. कनखला
68. कलकल
69. कंटलि
70. दहुलि
71. उधेली
72. कपलपा
73. किरव
74. सकर
75. सर्वभक्ष
76. नागबोधि
77. दारिक
78. पुतलि
79. पनह
80. कोकलिपा
81. अनंग
82. लक्ष्मींकरा
83. समुद्र
84. व्यलि

जब हम सिद्धों की सूचियां देखते हैं, तो हमें दोनों परंपराओं में कई नाम समान मिलते हैं। इनमें से तीन नाम दोनों परंपराओं, नाथ और सिद्ध, में एक क्रम में दिखाई देते हैं- मत्स्येंद्र, गोरख और चौरंगी। इनके अतिरिक्तओ, कई सिद्ध हैं जो दोनों सूचियों में मिलते हैं। दोनों परंपराओं में मत्स्येंद्र को गोरखनाथ का गुरु माना जाता है। हालांकि मत्स्येंद्र से संबंधित सिद्ध परंपरा की कथा नाथ परंपरा में भी लगभग समान है, किंतु किंचित अंतर के साथ। नाथ परंपरा में, मत्स्येंद्र को एक मत्स्य कहा गया है, जबकि सिद्ध परंपरा में उनका नाम मीनपा है और उन्हें मछुआरा कहा गया है[18]।

इस कथा के अनुसार, वह प्रतिदिन मछली का शिकार करने जाया करते और अपना शिकार बाजार में बेचा करते थे। एक दिन एक दूसरे मछुआरे ने उनके कांटे को एक सूती धागे से बांध दिया और उसमें मांस का चारा डालकर उसे पानी में फेंक दिया। एक विशाल मछली ने उसे पकड़ा और झटक दिया। उसने मछुआरे मीनपा को कांटे के साथ पानी में खींच लिया और उन्हें निगल लिया। किंतु अपने पुण्यकर्मों की शक्ति से वह मछुआरा मछली के पेट में जाकर भी मरा नहीं। उसी समय देवी पार्वती महादेव से धर्म के विषय में बात कर रही थीं। महादेव ने कहा, "धर्म का यह ज्ञान गोपनीय है। इसे सबके सामने व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसलिए चलिए, हम समुद्र में एक घर बनाएं।" समुद्र में रहते हुए, उन्होंने देवी उमा को धर्म का ज्ञान दिया। उसी समय वह मछली जिसने उस मल्लाह को निगल लिया था, तैरती हुई उस घर के नीचे से गुजरने लगी। इसी बीच धर्म की व्याख्या सुनते सुनते ही उमा को नींद आ गई और जब महादेव ने पूछा कि वह समझीं या नहीं, तो उत्तर मल्लाह ने दिया, "मैं समझ गई।" और इस प्रकार, उसने धर्म का वह गोपनीय ज्ञान प्राप्त कर लिया।

जब धर्म का उपदेश समाप्त हुआ, और जब देवी की नींद खुली तब उन्होंने उपदेश देने को कहा, जिस पर महादेव ने कहा, "मैंने अभी तो कहा।" किंतु देवी ने कहा कि उन्होंने तो केवल मध्यम तक सुना। उसके बाद उन्हें नींद आ गई। ऐसे में प्रश्न उठा कि फिर किसने कहा कि "मैं समझ गई।" महादेव ने तब अपना तीसरा नेत्र

खोला और देखा कि जिसने धर्म का उपदेश सुना था वह एक मछली के पेट में छिपा मनुष्य था। वह समझ गए कि मछली तैरती हुई उनके घर के नीचे आ गई थी। वह मल्लाह उनका शिष्य बन चुका था। इसलिए महादेव ने सोचा, "अब तो हम एक ही संकल्प में बँध चुके हैं।" इसलिए उन्होंने उस मल्लाह को दीक्षा दी, और मल्लाह ने बारह वर्षों तक उस मछली के पेट में रहते हुए तप किया। उसके बाद उस मछली को एक मल्लाह ने पकड़ा और जब उसके पेट को काटा तो उसमें से एक मनुष्य निकला। यह वही थे, जिन्हें आज हम मीनपा के नाम से जानते हैं।

यह वही मीनपा हैं, जो नाथ परंपरा में मत्स्येंद्रनाथ कहलाए। संस्कृत में दोनों शब्द मीन और मत्स्य एक दूसरे के पर्याय हैं, जिनका अर्थ मछली है। नाथ परंपरा के अंतर्गत, मत्स्येंद्र और उनके शिष्य गोरख से जुड़ी अनेकानेक कथाएं हैं। पंजाब में एक कथा आज भी प्रचलित है कि गोरखनाथ का जन्म गोबर से हुआ था। यह बालक मत्स्येंद्रनाथ को मिला, जिन्होंने उसे अपना शिष्य बना लिया। नेपाल में एक कथा है कि समुद्र में पार्वती को योग का सिद्धांत सुनाने के बाद शिव समुद्रतट पर खड़े हो गए। मछली के रूप में मत्स्येंद्र भी यह कथा सुन चुके थे। उधर शिव ने समुद्रतट पर एक स्त्री को इस वरदान के साथ कुछ खाने को दिया कि उसे एक पुत्र की प्राप्ति होगी। उस स्त्री ने वह पदार्थ नहीं खाया, बल्कि उसे गोबर के एक ढेर पर फेंक दिया। बारह वर्ष बाद मत्स्येंद्र उस स्थान पर आए और उस बच्चे को देखने की इच्छा प्रकट की। उन्हें पता चला कि उस स्त्री ने क्या किया था, और उन्होंने उससे गोबर के ढेर में खोजने को कहा। उसे वहां बारह वर्ष का एक बच्चा मिला। उस बच्चे का नाम गोरखनाथ रखा गया। मत्स्येंद्र उसके आध्यात्मिक गुरु बने और उसने उनकी एक कर्तव्य निष्ठ शिष्या की भांति सेवा की[19]।

संस्कृत में दोनों शब्द मीन और मत्स्य एक दूसरे के पर्याय हैं, जिनका अर्थ मछली है। नाथ परंपरा के अंतर्गत, मत्स्येंद्र और उनके शिष्य गोरख से जुड़ी अनेकानेक कथाएं हैं। पंजाब में एक कथा आज भी प्रचलित है कि गोरखनाथ का जन्म गोबर से हुआ था। यह बालक मत्स्येंद्रनाथ को मिला, जिन्होंने उसे अपना शिष्य बना लिया

इस कथा का एक और भेद है कि जब गोरखनाथ एक गुरु की खोज में थे, तब उन्होंने समुद्र तट पर पीपल के एक पत्ते पर रोटी का एक टुकड़ा अर्पित किया। एक मछली ने वह खा लिया और बदले में बारह वर्षों के बाद, एक बच्चे को जन्म दिया। शिव ने उस बच्चे का नाम मत्स्येंद्र रखा और आगे चलकर वह गोरखनाथ का शिक्षक, या आध्यात्मिक गुरु बना[20]। इस तरह मछली के साथ मत्स्येंद्र अथवा मीनपा की कथा हर जगह मछली के साथ ही जुड़ी हैं और सभी कथाओं में वह गोरखनाथ या गोरक्षपा के गुरु के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं।

दूसरी तरफ, महासिद्ध परंपरा के अंतर्गत[21], माना जाता है कि गोरख का जन्म पूर्वी भारत में एक अगरबत्तियां बेचने वाले के बेटे के रूप में हुआ। जब वह बड़े हुए तो उन्हें एक चरवाहे के रूप में काम पर रख लिया गया। एक दिन जब वह अन्य चरवाहों के साथ लेटे हुए थे तभी महासिद्ध मीनपा वहां आए। उन्होंने गोरख से कहा कि वहां से कुछ दूर एक राजकुमार है, जिसके हाथ-पैर कटे हैं और वह एक पेड़ के सामने पड़ा है, मर रहा है।

मीनपा ने उन्हें उस राजकुमार की देखभाल करने का आदेश भी दिया। गोरख लगातार बारह वर्षों तक उसकी सेवा करते रहे। एक दिन, रोज की तरह जब गोरख राजकुमार के पेड़ के पास पहुंचे, तो यह देखकर अवाक् रह गए कि राजकुमार अपने दोनों पैरों पर सीधा खड़ा था। उन्हें पता चला कि राजकुमार एक योग का अभ्यास करता रहा था जिसकी शिक्षा मीनपा ने उसे दी थी, और उस अभ्यास के फलस्वरूप उसके अंग फिर से जीवित हो उठे थे। हवा में उठते हुए राजकुमार ने गोरक्ष को तप करने की शिक्षा देने की इच्छा प्रकट की। किंतु, गोरक्ष ने मना कर दिया और उससे कहा, ''मेरे गुरु पहले से ही हैं। उन्होंने ही मुझे आपकी सेवा करने को कहा था, और मैंने केवल उनके निर्देशों का पालन किया है।'' गोरक्ष वापस चले गए और जब मीनपा पुनः आए, तो गोरक्ष ने उनसे कहा कि उन्होंने किस प्रकार उस राजकुमार की सेवा की और जब अंतिम बार उसकी सेवा करने गए तो क्या देखा। गुरु प्रसन्न हो गए और उसे दीक्षा और शक्ति दी और उन नीति वचनों का विस्तार से वर्णन किया जिनका पालन उन्हें करना चाहिए।

वह राजकुमार आगे चलकर महासिद्ध परंपरा में चौरंगीपा और नाथ परंपरा में चौरंगीनाथ कहलाए। दोनों ही परंपराओं में उनका वर्णन राजकुमार के रूप में किया गया है और वह अपनी विमाता के कामलिप्सा के शिकार हुए। नाथ परंपरा में उन्हें एक और नाम से जाना जाता है - पूरन भगत। यदि हम महासिद्धों और नाथों की कथाओं को गंभीरता से देखें, तो पाएंगे कि नाथों की सूचियों में कई महासिद्ध और उसी प्रकार महासिद्धों की सूचियों में कई नाथ हैं। यह तथ्य न केवल महासिद्धों और नाथों के परस्पर संबंधों को बल्कि भारतीय और तिब्बती संस्कृतियों के बीच घनिष्ठ संबंधों पर भी प्रकाश डालता है।

संदर्भ

1. *ओशो, गोरखवाणी के प्रवचन*
2. *द्विवेदी, डॉ. हजारी प्रसाद, नाथ संप्रदाय (हिंदुस्तानी अकादमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 1950) पृ. 2*
3. *वही, पृ. 26*
4. *https://www.lexico.com/en/definition/siddha*
5. *https://www.collinsdictionary.com/dictionary/english/siddha*
6. *https://www.merriam-webster.*

com/dictionary/siddha
7. https://en.wikipedia.org/wiki/Nath#cite_note-17
8. यथा उद्धृत, द्विवेदी, डॉ. हजारी प्रसाद, नाथ संप्रदाय (हिंदुस्तानी अकादमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 1950) पृ. 32
9. वही, पृ. 24
10. भारती, डॉ. धर्मवीर, सिद्ध साहित्य , (किताब महल, इलाहाबाद, 1955)
11. वही, पृ. 112
12. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय (उदयाचल, पटना, तीसरा संस्करण, 1962) पृ. 234-235
13. भारती, डॉ. धर्मवीर, सिद्ध साहित्य (किताब महल, इलाहाबाद) पृ. 148-149
14. ब्रिग्स, जॉर्ज वेस्टन, गोरखनाथ एंड दि कनफटा योगीज, (वाईएमसीए पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, 1938) पृ. 234
15. पूर्वोक्त, सैम्युएल, जीबी 2012। इंट्रोड्यूसिंग तिब्बतन बुद्धिज्म। वर्ल्ड रेलिजन्स। राउटलेज। [https://en.wikipedia.org/wiki/Tibetan_Buddhism]
16. https://en.wikipedia.org/wiki/Tibetan_Buddhism#:~:targetText=Tibetan%20Buddhism%20is%20a%20form,of%20eighth%2Dcentury%20India.%22&targetText=In%20the%20modern%20era%2C%20it,efforts%20of%20the%20Tibetan%20diaspora.
17. अभयदत्त, बुद्धाज लायंस, अनु. जेम्स बी. रॉबिन्सन, (धर्म पब्लिशिंग, बर्कले, 1979) पृ. 285-288
18. वही, पृ. 47-49
19. ब्रिग्स, जॉर्ज वेस्टन, गोरखनाथ एंड दि कनफटा योगीज (वाईएमसीए पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, 1938) पृ. 182
20. वही, पृ. 183
21. डाउमेन कीथ, मास्टॅर्स ऑफ महामुद्रा, (स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यू यॉर्क प्रेस, अलबेनी, 1985) पृ. 81-85

तिब्बत में झीलें

यमद्रोक झील या यमद्रोक त्सो या यमद्रोक यम्त्सो तिब्बत में एक मीठे पानी की झील है। यह तिब्बत की चार बड़ी धार्मिक-रूप से पवित्र झीलों में से एक है। यह बर्फ-ढके पर्वतों से घिरी हुई है और कई झरनों के पानी इसे भरते रहते हैं। झील ग्यांत्से शहर से 90 किमी पश्चिम में और तिब्बत की राजधानी ल्हासा से 100 किमी पूर्वोत्तर में है। स्थानीय आस्थाओं के अनुसार यह झील एक देवी का रूप है। झील के एक छोर पर एक प्रायद्वीप (पेनिनसुला) है जिसपर समदिन्ग बौद्ध-मठ बना हुआ है। यह श्झील का सिंहासनश भी कहलाता है और तिब्बत का इकलौता बड़ा मठ है जिसका धार्मिक नेतृत्व एक महिला (साधवी) करती हैं। यमद्रोक झील तिब्बत के ल्होखा विभाग (चीनी सरकारी दस्तावेजों में 'शाननान विभाग') में स्थित है जो दक्षिणी तिब्बत में पड़ता है। नगरत्से गाँव झील के पास स्थित है।

तिब्बती भाषा में झील को छवु कहा जाता है। तिब्बत स्वायत्त प्रदेश में छोटी बड़ी कुल 1500 से अधिक झीलें हैं , इन का कुल क्षेत्रफल 240 वर्गकिलोमीटर से अधिक है, जो चीन की झीलों के कुल क्षेत्रफल की एक तिहाई है। तिब्बत की झीलें न सिर्फ बड़ी हैं, बल्कि गहरी भी है। झीलों का निहित जल संसाधन प्रचुर है।

तिब्बत की सब से बड़ी झील ना मू छवु है। तिब्बती भाषा में ना मू छवु का मतलब पवित्र झील है, जो बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। ना मू छवु झील ल्हासा शहर की तांग शुंग काउंटी और ना छू प्रिफेक्चर की बैन ग काउंटी के बीच स्थित है। उस की दक्षिण पूर्व में गगनचुंबी नानछिंगथांगकुला पहाड़ की मुख चोटी खड़ी है। उस के उत्तर में अपार पठार है। इस झील की चारों ओर विशाल घास मैदान है। ना मू छवु एक विशाल दर्पण की तरह उत्तरी तिब्बत में फैली हुई है। नीले नीले आकाश, हरे हरे घास, रंगबिरंगी फूल और चरवाहों के तम्बू से एक बड़ा सुंदर प्राकृतिक समा बन जाता है। ■

मुक्त ज्ञानकोश विकिपीडिया से

वैद्य भगवान दास

तिब्बत में आयुर्वेद

भारत से त्रिविष्टप जाने वालों में केवल बौद्ध धर्म ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान की कई और शाखाएं भी शामिल हैं। इन्हीं में एक है आयुर्वेद, जीवन का विज्ञान। भारत और तिब्बत के बीच ज्ञान की इस साझेदारी पर एक दृष्टि

तिब्बत को हिमभूमि कहा जाता है। इस हिमभूमि पर असाधारण दार्शनिकों के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों के भी असाधारण चिंतक हुए। तिब्बत के आरंभिक निवासी संभवत: झाड़-फूंक वाले धर्म को मानते थे जो समूचे उत्तर भारत में प्रचलित था। झाड़-फूंक वाले धर्म के तिब्बती रूप को 'बॉन' धर्म कहते थे। सातवीं शताब्दी ईस्वी में तिब्बत का परिचय बौद्ध धर्म से हुआ और उसने इस देश के निवासियों पर असाधारण प्रभाव डाला। इसे 'चो' नाम से जाना जाता है। इन दोनों ही कालखंडों में वहां जनजीवन पर आयुर्वेद का व्यापक प्रभाव पड़ा।

तिब्बत की एक लोकप्रिय परंपरा के अनुसार सभी धर्म और धर्मनिरपेक्ष शास्त्र जिन्हे रिग्नास (विद्या स्थान या ज्ञान) कहा जाता है दस श्रेणियों में बांटे गए हैं। इनमें से पांच 'प्रमुख विषयों के समूह' हैं-

1. ब्जो रिग-पा	शिल्प शास्त्र तकनीक
2. ग्सो बा रिग-पा	चिकित्सा शास्त्र औषधि
3. रग्रा रिग-पा	शब्द शास्त्र व्याकरण
4. त्शाद-मा रिग-पा	प्रमाण शास्त्र तर्क
5. नंग-दोन रिग-पा	धर्म शास्त्र धर्म

शेष पांच श्रेणियां 'गौण विषयों के समूह' कहलाती हैं। ये श्रेणियां हैं-

1. स्न्यान-द्नगाग्स	काव्य शास्त्र
2. स्बेद-स्बग्योर	चंड शास्त्र
3. म्नगोन-बृजोद	अभिधान शास्त्र
4. ज़्लोस-गोर	नाट्य शास्त्र
5. रत्सिस	ज्योतिष शास्त्र

'बॉन' धार्मिक परंपराओं के अनुसार चिकित्सा शास्त्र पर जो चार ग्रंथ लिखे गए उनके रचयिता ख्युन्ग-स्प्रुल जिग्मे मम्मखाई दोर्जी थे। 1937-1950 की कालावधि में लिखे गए ये ग्रंथ तिब्बती बोन्पो मठ, ओचघाट, हिमाचल प्रदेश ने 1972 में प्रकाशित करवाए थे। ये ग्रंथ तिब्बती चिकित्सा परंपरा पर आयुर्वेद के प्रभाव के सशक्त प्रमाण उपलब्ध कराते हैं।

भगवान बुद्ध के उपदेशों का प्रसार करने के साथ-साथ, भारत के बौद्ध भिक्षुओं ने अपने तिब्बती शिष्यों को आयुर्वेद और अन्य विषयों का ज्ञान भी दिया। कला और विज्ञान के संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद वहां के अनेक शासकों के संरक्षण में भारतीय और तिब्बती विद्वानों ने मिल-जुल कर किया। साथ ही चिकित्सा शास्त्र के भारतीय और तिब्बती विद्वानों के बीच ज्ञान का व्यापक आदान-प्रदान हुआ। यहां तक कि जिन विद्वानों का बौद्ध धर्म के साथ कोई संबंध ही नहीं था उन्हें भी आयुर्वेद के प्रसार हेतु तिब्बत आने के लिए आमंत्रित किया गया।

तिब्बती त्रिपिटक को 14वीं शताब्दी में कूटबद्ध किया गया था, जब चौदहवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में मंगोल सम्राट बुयंतु खान (1312-20) के राजपुरोहित जाम द्ब्यांग के प्रयासों से देश भर के मठों में फैले अनेक पवित्र ग्रंथों को जमा किया गया और नार्थांग मठ में पहले से ही मौजूद शास्त्रों के संग्रह में शामिल किया गया। यही संग्रह बाद में आने वाली कंजूर और तंजूर परंपराओं का मूल रूप है। लगभग 201 आयुर्वेदिक ग्रंथों का अनुवाद करके तंजूर शास्त्रों में सम्मिलित किया गया। क्लास वोजेल के अनुसार तंजूर के विभिन्न संस्करण कालक्रम से यों सामने आये-

1312-20 ई. पुराना नार्थांग संस्करण नार्थांग संस्करण से चोंगे संस्करण निकला जिसका सही समय ज्ञात नहीं है।

1320-64 ई. बूस्तोन का संस्करण (पुराने नार्थांग संस्करण की परंपरा)।

1645-82 ई. पांचवें दलाई लामा का संस्करण (चोंगे संस्करण की परंपरा)।

1733-72 ई. दर्ज संस्करण (पांचवें दलाई लामा के संस्करण और बूस्तोन संस्करण के प्रभाव)

1742 नव-नार्थांग संस्करण (पुराने नार्थांग, बूस्तोन की परंपराओं का विस्तार)

1742-96 पीकिंग संस्करण (पांचवें दलाई लामा की परंपरा)

1772 चोने संस्करण (दर्ज संस्करण का विस्तार)

तंजूर में निम्नलिखित आयुर्वेद ग्रंथों को शामिल किया गया-

सं.	तिब्बती नाम	संस्कृत नाम	ग्रंथकार	अनुवादक
1.	स्ब्योर-बा बृग्याद-पा	योगशतक	क्लु-स्ग्रुब (नागार्जुन)	जेतकर्ण, बुद्धश्रीज्ञान, न्यिन्मा-रग्यालम्तशान
2.	स्मान-त्शोल-बाइ-म्दो	जीव सूत्र या वैद्य जीव सूत्र	क्लु-स्ग्रुब स्न्यिंग-पो (नागार्जुन हृदय)	
3.	स्लोब-द्पोन क्लु-स्ग्रुब-क्यिस म्दजादपा स्मान अ-बाइ चोन्गा	आचार्य नागार्जुन भाषित अवभेषजकल्प वैद्य अष्टांगहृदय वृतौभेषज नाम पर्याय नाम	क्लु-स्ग्रुब (नागार्जुन)	
4.	स्मान-द्प्याद यान-लाग बृग्याद-पा'इ स्न्यिंग पो'इ 'ग्रेल पा	वैद्य अष्टांगहृदय वृत्ति	ज़्ला-बा-ला-द्गा-बा (चन्द्रनन्दन)	
5.	स्मान-द्प्याद यान-लाग बृग्याद-पा'इ स्न्यिंग पो'इ 'ग्रेल-पास-लास स्मान-ग्यी मिन-गीर्नाम-ग्रांग्स ज़्हेस-ब्या-बा	वैद्य अष्टांगहृदय वृत्तौ भेषजनाम पर्याय नाम	ज़्ला-बा-ला-द्गा-बा (चन्द्रनन्दन)	
6.	यान-लाग बृग्याद-पा'इ स्न्यिंग-पो ब्स्दुस-पा-ज्हेस-ब्या-बा	अष्टांगहृदय संहिता नाम	फा-गोल जरांधर	रिन-चेन ब्जांग पो
7.	यान-लाग बृग्याद-पा'इ स्न्यिंग-पो ज्हेस-ब्या-बा'इ स्मान द्प्याद क्यि ब्शाद-पा	अष्टांगहृदयनाम वैदुर्यक भाष्य	फा-गोल (वाग्भट्ट)	धर्मश्री वर्मा शाक्य ब्लो-ग्रास
8.	यान-लाग बृग्याद-पा'इ स्न्यिंग-पो'इ रनाम-पार' ग्रेल पा, त्शिंग-गि दॉन ग्यि ज्ला-जेर ज्हेस ब्या बा।	पदार्थचन्द्रिकाप्रभाषानाम अष्टांगहृदयविवृत्ति	ज्ला-बा-ला-द्गा-बा (चन्द्रनन्दन)	जरांधर रिन-चेन ब्जांग पो
9.	स्मान द्प्याद ग्सेस-पार ग्रुब पा ज्हेस-ब्या-बा	वैद्य सिद्धसार	न्यि-मा ब्सरुन्स-पा	जिनमित्र, अतिराग्य वर्मा
10.	फग्स-पा रग्याल-मा ज्हेस- ब्या-बा'इ रिल बू	आर्य राज नाम वाटिका	क्लु-स्ग्रुब	(नागार्जुन)
11.	फग्स-पा रत्सा-बा'इम्द-जोद स्मान चेनपोई रिम-पा	आर्य मूलकोष महौषधवली	क्लु-स्ग्रुब (नागार्जुन)	
12.	रत्सा-वृताग-चिंग ग्रांग्ला' बेब्स-पा'इ राब्तु दब्ये-बा			
13.	त्शे'इ रिग ब्येद्म्था'-दाग-गि स्न्यिंग-पो ब्स्दुस-पा'इ ग्लेग्स-बाम-ग्यि चे बृजोद ब्सग्युर-ब्यांग स्मोन-लाम ग्यि रिम-पा।	आयुर्वेदसर्वस्वसार संग्रह	त्शान्स-स्रस्ब्शद पा'इरदी-रजे ब्रह्मपुत्रहसवज्र	
14.	फग्स-युल फा-होइ स्मान-पा दा-ना-दा-सा'इ स्मान ब्कॉस	आर्यदेशफाहभिषागदान दासभेषजसंस्कार	दानदास	
15.	चांग्स-पा'इ रिग-ब्येद रग्या-म्त्शो'इ यान-लाग'द्जिन-पा ग्यो-बा-कैन ज्हेस-ब्या-बा	ब्रह्मवेदशार्ग्धिरचरकनाम	कुन-फन ब्दुग रत्सि स्ब्यिन (सर्वहितामृत दत्त)	
16.	ल्हा-द्बांग-फ्युग-गिस त्शोग्स-ल्दाग-ला ग्नांग-बा'इ सा-मु-द्रा फा -ला'इ स्ब्योर-बा खा-ब्स्युर दांग-ब्कास पा	देवेश्वरदिष्टानियमसहित गणपतिसमुद्रफलप्रयोग		न्गाग-द्बांग फुन त्शोग्स ल्हुन ग्रब

17.	फग्स-युल द्बुस'ग्युर मा-थु-रगा'इ रग्याल-रिग्स-क्यि स्मान पा-रा कु-ना-था'इ ग्दमास पा	आर्यदेशमगधमथुराक्षत्रियभिष रकघुनाथामनाय	रघुनाथ?	
18.	मिग-'ब्येद म्थांग बा दॉन-ल्दान	अमोघदर्शी नेत्रविभंग	मानह	न्नाग-द्बांग फुन त्शोग्स ल्हुन ग्रब
19.	दनगुल-चु ग्रबपा'इ ब्स्तान-ब्कॉस ज्हेस-ब्या-बा	रससिद्धिशास्त्रनाम	भा-लि-पा (व्याधिपाद)	श्रीनरेन्द्र भद्र ओड्याणपा रिन-चेन द्पाल
20.	ग्सेर-'ग्युर-ग्यिब्स्तान-ब्कॉस ब्सदुस पा	रसायनशास्त्रोधृति		ओर्ज्ञान पा
21.	रता'इ त्शेइ रिग ब्येद सा-लि-हो त्रांग ब्सदुसपा ज्हेस-ब्या-बा	शालिहोत्रअस्वायुर्वेदसंहितानाम	शालिहोत्र	धर्मश्रीभद्र बुद्धश्रीशान्ति रिन-चेन ब्जांग पो

इन नामों से स्पष्ट होता है कि 'अष्टांग हृदय' पर वाग्भट्ट के 'वैदुर्यक भाष्य', नागार्जुन के 'वैद्य जीव सूत्र' और सर्वहितामृत दत्त के 'ब्रह्मवेदशार्गधिरचरक' आयुर्वेद के क्षेत्र में सुना भी नहीं गया है और नागार्जुन का 'योगशतक' और चन्द्रनंदन की 'भेषजनामपर्याय' वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं।

क्र.	तिब्बती नाम	संस्कृत पर्याय
1.	रत्सा रग्युद	मूल तंत्र (मुख्य पाठ)
2.	ब्शाद रग्युद	आख्यात तंत्र (व्याख्यात्मक पाठ)
3.	मन-न्नांग रग्युद	उपदेश तंत्र (उपदेशात्मक पाठ)
4.	फ्यी-मा रग्युद	उत्तर तंत्र (अंतिम पाठ या परिशिष्ट)

धर्मनिरपेक्ष चिकित्सा ग्रंथों की बात करें तो जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय ग्रंथ सामने आता है वह है-रग्युद ब्ज्हीजिसे चार प्रकरणों या चात: तंत्र के अर्थ में लिया जाता है। इस ग्रंथ का सार तत्त्व मूल संस्कृत में दी गयी परिचयात्मक टिप्पणियों से स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत में इसका शीर्षक है--'अमृत हृदय अष्टांग गुह्योपदेश'। इस ग्रंथ के निम्नलिखित भाग हैं-

यह ग्रंथ प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है। ये प्रश्नोत्तर चलते हैं रिशी यिद लास स्क्वेयस और रिग-पाई ये शे, जो औषधि बुद्ध के निर्माणकाय अर्थात प्रकट रूप हैं। इसकी शैली रसार्णव तंत्र जैसी है जो शिव और पार्वती के बीच वार्तालाप पर आधारित है। इस ग्रंथ के चारों भागों में 156 अध्याय और 5,900 श्लोक हैं। आठवीं शताब्दी ईस्वी में एक तिब्बती विद्वान वैरोचन ने इस ग्रंथ का ज्ञान भारत में चंद्रनंदन से प्राप्त किया। उनके गुरु उस समय तिब्बत में ही थे। उनके आदेशानुसार इस ग्रंथ को तिब्बत के एक मठ में छुपाकर रखा गया। बाद में दसवीं शताब्दी में ग्तर-स्तोन ग्राग्स्पा म्नगोन-शेस ने इसे गुमनामी के अंधेरों से निकालकर सर्वसुलभ बनाया।

रग्युद ब्ज्ही का कुछ भाग शास्त्रीय आयुर्वेदिक ग्रंथों से इस सीमा तक मिलता जुलता है कि इसे सहज ही उनका अनुवाद माना जा सकता है। चूंकि मूल संस्कृत ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं हैं इसलिए यह अनुमान लगाना कठिन है कि 'चरक सुश्रुत' और 'अष्टांग हृदय' की रचना रग्युद ब्ज्ही (अमृत हृदय अष्टांग गुह्योपदेश) से पहले हुई या बाद में।

आयुर्वेदिक ग्रंथों की तरह ही रग्युद ब्ज्ही की भाषा और अभिव्यक्ति की शैली गूढ़ प्रकार की है और शायद इसी कारण से इस ग्रंथ के विभिन्न भागों की अनेक टीकाएं मिलती हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण टीकाएं हैं-

1. ब्यान्स पा की लिखी लेग्स ब्शाद नॉर बू (सुभाषित रत्न)। (14वीं शताब्दी)
2. जुर-म्खार-वा-म्न्याम-न्यिद रदो-रजे की टीका। (14वीं शताब्दी)
3. स्दे-स्रिद संग्स-रग्यास रग्या-म्तशो की लिखी वैदुर्य स्नगोन पो (नील वैदुर्य)

मंगोलिया में भी यह ग्रंथ उतना ही लोकप्रिय हुआ जितना तिब्बत में। इस विषय में एक रोचक किस्सा है। मंगोलिया के दो विद्वान चिकित्सक जो एक दूसरे को फूटी आंख नहीं सुहाते थे, इस पुस्तक के बारे में अनेक टीकाएं लिखते चले गए और हर टीका पहले लिखी गई टीका का खंडन करती थी।

ग्रंथ में दिए गए विवरणों से पता चलता है कि चरक ने अग्निवेश के शास्त्रीय ग्रंथ को संशोधित किया। अग्निवेश ने ग्रंथ की रचना आत्रेय के निर्देशों पर की थी, जिन्होंने इस विज्ञान को सीधे ही भारद्वज या इंद्र से सीखा था। तिब्बती ग्रंथों में उपलब्ध मिथकों के अनुसार जब औषधि बुद्ध के निर्माणकाय रिग-पाइ ये शे, यी-ला-क्ये और अन्यों को रग्युद ब्ज्ही की शिक्षा दे रहे थे तो री-शी ने अपने उपदेशों को त्सा-रा-का स्दे-बृग्याद का रूप दिया। एक अन्य कथा के अनुसार आयुर्वेद के विज्ञान को बुद्ध कश्यप ने ब्रह्मा को सिखाया, ब्रह्मा ने दक्ष प्रजापति को, प्रजापति ने अश्विनों को, अश्विनों ने इंद्र को, इंद्र ने आत्रेय को और इंद्र ने ही का-न्यि-चो को, चो ने मु-ख्युद-द्जिन को, मु-ख्युद ने शोल-ग्रो-स्क्येद को, शोल ने मि-ब्जिहन जग (अग्निवेश) को, जग ने लुग-नाग(कृष्ण भेष) को और लुग-नाग ने ग्या केग स्ना को सिखाया। इन सबके कार्य के संकलन को ही त्सा-रा-का दे-ग्या नाम दिया गया।

एक अन्य कथा के अनुसार आत्रेय, अग्निवेश, धन्वंतरि, निमिंधर, हलधर, का-न्यि-चो, द्रो-क्योंग-गि-बु, नाम-सो-क्ये, ने अपने-अपने ग्रंथों की रचना इंद्र से प्राप्त निर्देशों के आधार पर की। इन सभी ग्रंथों के संकलन को त्सा-रा-का दे-ग्या नाम से जाना गया। रि-शी पाल-दान त्रेन्ग वा ने इस संकलन पर एक भाष्य लिखा जिसमें

600 अध्याय हैं।

त्सा-रा-का दे-ग्या का अर्थ है चरक अष्टवर्ग। यह समझना अत्यंत कठिन है कि पद दे-ग्या को जिसका अर्थ अष्टवर्ग है शीर्षक में क्यों जोड़ा गया है। परंतु इतना तो लगता ही है कि यह चरक के आठ भागों की ओर इंगित करता है।

आयुर्वेद की तरह ही तिब्बती औषधि विज्ञान को भी ब्रह्मा और उनकी परंपरा से उत्पन्न माना गया है। परंतु सर्वाधिक महत्व इस बात का है कि तिब्बती ग्रंथों के अनुसार एक पूर्ववर्ती कल्प में बुद्ध काश्यप द्वारा दिए गए उपदेशों को ब्रह्मा ने अपनी स्मृति में उतारा और फिर अपने शिष्यों को सिखाया। यह कथा वागभट्ट के अष्टांग हृदय के सूत्र 'ब्रह्मा स्मृत्वा आयुषो वेदम्य्' के अनुरूप है।

सातवीं शताब्दी के राजा स्रोंग-ब्त्सान स्गाम-पो ने अपने दरबार में तीन विद्वान चिकित्सकों को आमंत्रित किया। भारत से भारद्वाज, चीन से ह्वांग-वांग-हांग और फारस से गैलिनॉस बुलाए गए। इन तीन चिकित्सकों ने अपने-अपने देशों के चिकित्सा ग्रंथों का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया और आपस में विचार-विमर्श करके एक चिकित्सा ग्रंथ की रचना की जिसका शीर्षक था--'मि-जिग्स-पा'इ म्त्शों-चा' अर्थात 'निर्भय का अस्त्र।' सात अध्यायों वाले इस ग्रंथ को राजा को भेंट कर दिया गया। राजा ख्रि-श्रोंग ल्दे-ब्त्सान ने भी अनेक देशों के चिकित्सकों को बुलवाकर उनके देशों के चिकित्सा-ग्रंथों का अनुवाद तिब्बती भाषा में करवाया। भारत से गए शांतिगर्भ ने अन्य ग्रंथों के साथ-साथ 'स्बास-स्रोम-स्मग-पो'इ-रग्युद का अनुवाद किया। इसी प्रकार गुह्यवज्र कश्मीर से, चीन से स्तों-ग्सुम गान-बा, हलशांति फारस से, ग्सर-म्दोग' ओद-चेन गुगे से, ख्योल-मा रु-त्सी दोल्पो से, और धर्मशाल नेपाल से गए थे। यद्यपि संसार के अन्य भागों से चिकित्सक बुलाए गए और उनके देशों के चिकित्सा-ग्रंथों का अनुवाद तिब्बती भाषा में करवाया गया, फिर भी उन्हें आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धांतों के अनुसार ही ढाला गया। अतः वर्तमान व्यवहार में तिब्बती चिकित्सा पद्धति का आयुर्वेद से गहरा संबंध है।

ऊपर अन्य देशों के चिकित्साशास्त्रियों के जिन सम्मेलनों के बारे में बताया गया, उन सम्मेलनों का आयोजन तो किया ही गया, तिब्बती विद्वानों को भारत भेजने की प्रक्रिया भी जारी रही ताकि वे आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति का अध्ययन कर सकें।

पद्मसंभव के शिष्य वैरोचन ने भारत आकर 25 विद्वानों से चिकित्साशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की। चंद्रनंदन से उन्होंने रग्युद ब्ज्ही की शिक्षा दसवीं शताब्दी ईस्वी में प्राप्त की। रिन-चेन ब्जांग-पो चिकित्साशास्त्र के अध्ययन के लिए दस वर्षों तक भारत में रहे और कश्मीरी पंडित जनार्दन सेयान-लाग बृग्याद-पा'इ स्न्यिंग-पो ब्स्दुस-पा अर्थात अष्टांग हृदय के 120 अध्यायों के साथ-साथ चंद्रवदन लिखित इसकी चंद्रिका टीका की शिक्षा प्राप्त करने के लिए 100 स्वर्णमुद्राओं का भुगतान किया।

दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजा ल्हा-ब्ला-मा ये-शेस-हो के शासनकाल में भारतीय पंडित धर्मश्रीवर्मन और स्न्ये-बो-लो-चा-बा द्ब्यीग-गी-रिन-चेन और अन्यों ने वाग्भट्ट रचित अष्टांग-हृदय और स्वयं वाग्भट्ट द्वारा ही रचित इसके वैदुर्यकभाष्य का अनुवाद किया।

तिब्बत में आयुर्वेद किस सीमा तक विकसित था इसे समझने के लिए भ्रण के विकास की व्याख्या का एक उदाहरण अत्यंत महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद के शास्त्रीय ग्रंथों में गर्भावस्था के प्रत्येक माह में भ्रण के विकास के लक्षणों की विस्तृत व्याख्या की गई है परंतु तिब्बती शास्त्रीय ग्रंथों में भ्रण के विकास की व्याख्या सप्ताहवार की गई है। इस संबंध में आयुर्वेदिक भ्रणविज्ञान और मातृत्व से संबंधित एक महत्वपूर्ण पुस्तक Embryology and Maternity in Ayurveda के पृष्ठ संख्या 7 से लेकर 10 तक, पर दृष्टिपात करना आवश्यक है जिनमें लगभग सभी उपलब्ध आयुर्वेदिक ग्रंथों से आंकड़े लिए गए हैं। रग्युद ब्ज्ही जिसे ग्यु-ज्ही भी कहा जाता है, में भ्रण के विकास के जो आंकडे मिलते हैं वे निम्नलिखित हैं-

गर्भावस्था का सप्ताह	भ्रूण के लक्षण
1	अंडाणु और शुक्राणु के मेल के बाद, जिस युग्मनज का निर्माण होता है वह लसदार हो जाता है और दूध के साथ मिले दही की तरह हो जाता है।
2	यह लसदार पदार्थ गाढ़ा हो जाता है जिसे तिब्बती भाषा में नर-नर-पो कहते हैं। इसका संस्कृत पर्याय 'कलाल' है।
3	भ्रूण दही की तरह गाढ़ा हो जाता है। यह निर्देश दिया गया है कि पुंसवन क्रिया (भ्रूण के लिंग निर्धारण के उपाय) इसी सप्ताह में किए जाने चाहिए। आयुर्वेदिक साहित्य में इस उपाय के लिए गर्भ का तीसरा माह निर्धारित किया गया है।
4	भ्रूण गोलाकार, रसौली की तरह या लंबे आकार का हो जाता है। यदि यह गोलाकार हो जाए तो भ्रण नर होता है, रसौली की तरह हो जाए तो मादा और लंबे आकार का हो जाए तो द्विलिंगी होता है। आयुर्वेदिक साहित्य में उपलब्ध विवरणों से यह नितांत भिन्न है।
5	नाभि का निर्माण होता है।
6	नाभि कुछ महत्वपूर्ण नसों से जुड़ जाती है।
7	नेत्रों का निर्माण होता है।
8	सर आकार लेता है।
9	धड़, भुजाओं और टांगों का निर्माण होता है।
10	दो कंधे और दो कूल्हे बनते हैं।
11	शेष नौ इंद्रियों का निर्माण आरंभ होता है।
12	कुछ महत्वपूर्ण अंग, जिनकी संख्या पांच है, बन जाते हैं।
13	छह आंतों का निर्माण होता है।
14	ऊर्वस्थि (जांघ की हड्डी) और प्रगंडास्थि (भुजा की ऊपरी हड्डी) का निर्माण।
15	टांगों, हाथों और अग्रभुजाओं का निर्माण होता है।

16	बीस उंगलियां उभरती हैं।
17	आंतरिक और बाहरी अंगों को जोड़ने वाली नसों और पुट्ठों का निर्माण होता है।
18	मांस और चर्बी का निर्माण होता है।
19	16 बड़ी ग्रंथियों और अस्थिरज्जुओं का निर्माण होता है।
20	शेष अस्थियों और अस्थिमज्जा का निर्माण होता है।
21	बाहरी त्वचा का निर्माण होता है।
22	इंद्रियों के विवर प्रकट हो जाते हैं।
23	छोटे बाल और नाखून उग जाते हैं।
24	पेट और छाती के भीतर विभिन्न अंग स्पष्ट रूप से बन जाते हैं।
25	भ्रण के शरीर के भीतर वायु
26	मन की चेतना उत्पन्न हो जाती है और स्मृति स्पष्ट हो जाती है।
27 से 30	जिन अंगों का निर्माण हो चुका है वे स्पष्ट ही अलग अलग दिखने लगते हैं।
31 से 35	सभी अंगों का आकार बढ़ जाता है।
36	जि-दांग (ओजस) नाम का तत्त्व मां से शिशु की ओर तथा शिशु से मां की ओर प्रवाहित होता है। जब यह मां से शिशु की ओर प्रवाहित होता है तो मां उदास और शिशु प्रसन्न होता है और जब यह शिशु से मां की ओर प्रवाहित होता है तो शिशु उदास और मां प्रसन्न हो जाती है।
37	बौद्धिकता का विकास होता है।
38	भ्रूण सामान्य प्रक्रिया से मां के शरीर से बाहर आ जाता है।

सारांश

भारतीय शास्त्रों के अनुवाद की दृष्टि से तिब्बती भाषा अत्यंत समृद्ध है। अनुवाद वैज्ञानिक पद्धति से किए गए हैं और साथ ही तथ्यों का उपयुक्त श्रेणीकरण भी किया गया है। आयुर्वेद के कुछ महत्वपूर्ण और प्रामाणिक ग्रंथों के साथ ही विज्ञान और कला के अन्य आयामों से संबंधित आलेख भी तिब्बती भाषा में सुरक्षित हैं। तिब्बती परंपरा में 'अष्टांग हृदय' के अतिरिक्त वाग्भट्ट का संबंध तीन अन्य कृतियों से जोड़ा गया है। इनमें से कम से कम एक वर्तमान में उपलब्ध 'अष्टांग हृदय' से आकार और विषय-वस्तु में बड़ी है। उस कृति पर एक भाष्य भी उपलब्ध है जो अनेक स्थानों पर इस कृति की परंपरागत टीकाओं से महत्वपूर्ण मतभेद प्रकट करता है। यद्यपि तिब्बत के अनेक शासकों ने भारत के अतिरिक्त भी अनेक देशों के चिकित्सकों को अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों के लिए आमंत्रित किए, फिर भी तिब्बती चिकित्साशास्त्र पर आयुर्वेद के सिद्धांतों और व्यवहार का अत्यधिक प्रभाव है। संस्कृत में लिखे गए आयुर्वेदिक ग्रंथ 'अमृत अष्टांग गुह्य उपदेश तंत्र' (जो अब विलुप्त हो चुका है) के तिब्बती अनुवाद ग्यु-ज्हीमें ऐसे विवरण मिलते हैं जिनसे आयुर्वेद के असाधारण विकास का पता चलता है।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि चिकित्सा की इन दो पद्धतियों का सम्मिलन हो जाए तो दोनों एक दूसरे के पूरक होंगे जिससे चिकित्सा-विज्ञान में नए आयाम जुड़ेंगे और विश्व भर के रोगियों को आरोग्य प्राप्त होगा।

साभार: द *टिबेट जर्नल*, खंड 1, अंक 1, जुलाई/सितंबर 1975

संदर्भ:

1. *वैद्य भगवान दास, Tibetan Medicine, आयुर्धर्म (इण्डियन आयुर्वेदिक एड सोसाइटी, बम्बई) खंड-2, सं.5. मई 1966।*
2. *वैद्य भगवान दास, Location of Doshas According to Ashtanghridaya, 'वागभट्ट' के वैदुर्यकभाष्य के आधार पर (अंतर्राष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन, नई दिल्ली, 1972 में प्रस्तुत आलेख)*
3. *वैद्य भगवान दास, Description of the Drug Terminalia Chebula in Ayurveda and Tibetan Medical Literature- (इंटरनेशनल कांगेस ऑफ ऑरियंटलिस्ट्स, पेरिस, 1975)*
4. *वैद्य भगवान दास,Embryology and Maternity in Ayurveda and Maternity in Ayurved, (दिल्ली डायरी पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली, 1975)*
5. *क्लास वोजेल, Vagbhatta's Ashtanga hridaya (Kommisionverlag Fraz Steiner, Neisbaden, 1965)*
6. *Fundamentals of Tibetan Medical Practice (स्मान-रतसिस शेश-रिक द्पे मद्जोद, लेह-1974)*
7. *डॉ. लोकेश चन्द्र, सं. An Illustrated Tibetto-Mongolian Materia Medica of Ayurveda (इंटरनेशनल एकेडमी ऑफ इण्डियन कल्चर, न्यू दिल्ली., 1971)*
8. *रेचुन्ग रिम्पोचे, Tibetan Medicine (यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कली, 1973)*
9. *स्दे-स्रिद संग्स-रग्यास रग्या-म्तशो, Ayurveda in Tibet (सोनम डब्ल्यू ताशीगान्ग, लेह, 1970)*
10. *डॉ. लोकेश चन्द्र, सं. An Illustrated Tibetto-Mongolian Materia Medica of Ayurveda*
11. *दिल-द्मार द्गे-ब्सिस ब्स्तान-दिजन फुन-त्शाग्स, Lamaist Pharmacognosy (सोनम डब्ल्यू ताशीगान्ग, लेह, 1970)*
12. *त्शो-ब्येद ग्ज्होन-नु'इ म्युल रग्यान, मंगोलियन लामा गुरुदेव, तिब्बती मठ, वाराणसी, 1967।*
13. *ब्दुद-रत्सी स्न्यिंग-पो यान-लाग ब्रुग्याद-पा ग्सांग बा मान-न्गाग र्युद (तिब्बती चिकित्सा केन्द्र. धर्मशाला, 1971)*
14. *स्दे-स्रिद संग्स-रग्यास रग्या-म्तशो, Techniques of Lamaist Medical Practice, (सोनम डब्ल्यू ताशीगान्ग, लेह, 1970)*
15. *स्दे-स्रिद संग्स-रग्यास रग्या-म्तशो, "बी-दुर संगोन पो" (टी.वाइ. ताशीगान्गपा, लेह 1973) खंड-1-4)*
16. *जू-चेन, त्शुल-ख्रिम्स रिन-चेन, "स्दे-द्गे'इ ब्स्तान-ग्युर द्कार-चाग" टी.डब्ल्यू. ताशीगान्गपा, लेह, 1974)*

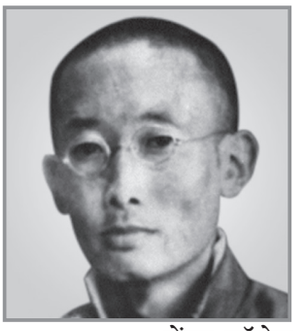

जेंडुन शॉफेल

ल्हासा से भारत तक

तिब्बती लोग भी भारत से वैसी ही एकात्मता और अत्मीयता का अनुभव करते हैं जैसे कि भारतीय लोग तिब्बत से। यह बात जाहिर होती है उनके साहित्य और उनकी संस्कृति से। एक यथार्थपरक दृष्टि

हमारे देश में बोधिसत्व राजाओं और मंत्रियों द्वारा नियत किए गए उदाहरणों के द्वारा भारत के प्रति प्रेम के कई उदाहरण हमारे लोगों में दिखाई देते हैं, फिर चाहे वह उच्च वर्ग के हों, मध्य वर्ग के हों या फिर निम्न निम्न वर्ग के। उनका प्रेम उस भूमि के लिए अत्यधिक रहा है जहां से बौद्ध धर्म तिब्बत आया था। तिब्बत विद्वानों की शारीरिक, मानसिक और वाचिक विशेषताओं का हर पहलू जैसे उनकी कल्पना शक्ति, साहित्यिक शैली, वस्त्र एवं धार्मिक अनुष्ठान आदि पूर्णतया भारतीय विशेषताओं से परिपूर्ण हैं, जैसे तिल के बीज और तिल के तेल, इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। यहाँ तक कि तिब्बत कविताओं में भी भारतीय पर्वतों, नदियों, फूलों तथा अन्य भारतीय नामों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए:

स्बिग ब्यैद रल बो लता बुर ब्र्द्र प'एट सकु,
गंग गा'रिम लतार दाग किंग दर्ल मंद ग्सुंग
(देह विन्ध्य पर्वत की तरह गरिमापूर्ण है,
भाषा गंगा की धारा की तरह स्पष्ट है।)

ऐसे उदाहरणों के साथ यह कविताएँ सुन्दर मानी जाती हैं। आइए नीचे उदाहरण देखते हैं:

रमा ग्र्याल, स्पाम रा ब्जिं दू ब्रिज पा सकू
रमा छू ब्जिं दू ङ्गन चढ़ मेड पा इग्सुंग
(देह मग्याल पोम्रा की तरह गरिमापूर्ण है,
भाषा माचू पर्वत की तरह बाधारहित है।)

उक्त उदाहरण में यद्यपि दो पंक्तियों के पहले शब्द एक दूसरे के साथ तुकबंदी करते हैं और पद रचना अत्यंत ही सुंदर है एवं कविता पूरी तरह से बांधे रखने वाली है। हमारे लेखक भारतीय नामों का उपयोग करने की प्रबल प्रवृत्ति के कारण, कभी-कभी अपनी रचनाओं में भारत की सामान्य चीजों के नामों का उपयोग मात्र उनके वास्तविक अर्थों को जाने बिना, उनके अर्थ की धारणा के आधार पर करते हैं। ऐसा करके, वे अनायास ही कई हास्यास्पद बातें लिखते हैं। यह सत्य है कि हमें किसी भी विषय के बारे विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए उसे देखना चाहिए और उसके बारे में सुनना चाहिए। यद्यपि इसका मतलब यह नहीं है कि यदि हमें इसके विषय में पता चल जाएगा तो हम उसके विषय में ज्ञानी हो जाएंगे, और इसके विपरीत यदि कोई केवल अनुमान से ही किसी के विषय में कुछ लिखेगा तो वह झूठ हो जाएगा। इसके साथ ही कभी कभी यह काफी अलग और गलत अर्थ दे सकता है।

यदि हम जो लिखते हैं उसके विषय में सब कुछ ठीक तरीके से जानते हैं तो इससे बहुत फर्क पड़ेगा। इसलिए, मैंने तिब्बत और भारत के विभिन्न पवित्र स्थानों की तीर्थयात्रा के दौरान जो कुछ भी देखा और सुना, मैं उन्हें एक खंड में पूरी तरह से लिखूंगा। मैं केवल झूठी धारणाओं पर कुछ नहीं लिखूंगा, और न ही मैं निराधार काल्पनिक कहानियाँ लिखूंगा जो कई लोगों को खुश करने के लिए होती हैं। मेरे पास यह भी साहस नहीं है कि मैं कुछ लोगों की भावनाओं को आहत होने से बचाने के लिए सत्य न लिखूं। मैं अपनी आजीविका के लाभ के लिए कुछ भी नहीं लिखूंगा। मेरा उद्देश्य अच्छी प्रतिष्ठा अर्जित करना नहीं है। मैं उन्हीं पर लिखूंगा जो मैं एक विशेष स्थान पर पाऊंगा, एक संवाद की तरह और मात्र उन्हीं लोगों के लिए पुस्तक लिखूंगा जो पक्षपात से रहित हैं। यदि मैं भीरु हूँ और यदि मुझे भय है कि मैं दूसरों के विचारों से

विचलित हो सकता हूँ, तो मैं ऐसा कुछ नहीं लिख सकूंगा जो दूसरों के ज्ञान में वृद्धि कर सके। यद्यपि मैं ईमानदारी से कहूं कि क्या सही है और क्या गलत है तो मैं उच्च और निम्न दोनों ही स्तर के लोगों को क्षति पहुंचा सकता हूँ, और मैं अपशब्दों और आलोचना का शिकार बनूँगा। एक तिब्बती होने के नाते और अपने देश को अच्छी तरह से जानने के बाद, मैं समझता हूं कि यह मुझे एक बड़े खतरे में डाल देगा। इस खतरे से असंतुष्ट, मैं फिर भी सत्यनिष्ठा से यहां लिखूंगा, और मैं सौ बार प्रार्थना करता हूं कि विनम्र लोग मुझसे नाराज न हों।

> अतिशयोक्तिपूर्ण वक्तव्य जो मूर्खों को विस्मित करते हैं,
> चापलूसीपूर्ण शब्द जो उच्च स्थान पर बैठे लोगों को प्रसन्न करते हैं और कल्पनाएँ जो लोगों में विश्वास जाग्रत करती है-
> मैं इनका त्याग करता हूँ और सत्यनिष्ठा के मार्ग पर चलता हूँ।

मैं, बत्तीस साल की उम्र में, 16 वें राजबंग चक्र के वुड-मेल-डॉग वर्ष [1934] में, भारत भ्रमण के लिए निकला। यह वर्ष श्रीलंका की थेरवादी परंपरा के अनुसार भगवान बुद्ध के 2,476 वें परिनिर्वाण का वर्ष था। इस प्रकार की तिथि प्रणाली का अनुसरण वह सभी देश करते हैं, जहां बाद में बौद्ध धर्म विकसित हुआ। इस तिथि प्रणाली का लाभ यह है कि इससे इतिहास का अध्ययन आसान बनता है। इस प्रकार मैं भी अपनी सभी ऐतिहासिक तिथियों के आधार के रूप में इसी तिथि प्रणाली को बनाऊंगा। तिब्बत के कुछ महान विद्वान यद्यपि इस तिथि प्रणाली पर प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि यह तिथि प्रणाली विश्वसनीय नहीं है क्योंकि थेरवादी साधुओं ने बुद्ध की प्रतिमा के निर्माण की तिथि को ही बुद्ध की जन्मतिथि मान लिया है। वैसे यह कथन अत्यधिक विवादास्पद है।

अपनी युवावस्था के दिनों से ही मैं हमेशा से भारत आने के लिए लालायित था। जब मैं मध्य तिब्बत गया और ड्रेपंग (श्ब्रांग स्पंग) में सात साल बिताए, तो मैं पंडित राहुल [शांतिरक्षिता] नामक एक भारतीय भिक्षु से मिला, जिन्होंने मुझसे भारत चलने के लिए कहा. और इस प्रकार मेरा सपना सच हो गया। मैं उनके साथ भारत आया। आरंभ में, हम तिब्बत में कई स्थानों पर तीर्थयात्रा पर गए, जैसे कि फेन्युल (श्फान यूल) और रद्रेंग (आरएवी ग्रेंग)। उसी समय, मैंने उनसे आधारभूत संस्कृत सीखना शुरू कर दिया। उनके पास खूब धन था। वह लगभग सात साल के तिब्बती बच्चे के जितनी तिब्बती बोल सकते थे। उनमें ल्हासा के अधिकारियों से मित्रता करने की अद्भुत शक्ति थी। इसलिए, ल्हासा में कुछ अधिकारियों की सहायता से हम मठों का दौरा करने और पवित्र चित्रों को बहुत करीब से देखने में सक्षम हुए थे।

फेन्युल ल्हासा और एक पहाड़ के बीच स्थित है, और फेन्युल में ल्हासा से अधिक संख्या में मठ हैं। फेन्युल का जो ऊपरी भाग है, वह विशाल मैदानी भागों के साथ एकदम मैदानी चारागाह क्षेत्र की तरह है और इसके प्राकृतिक दृश्य बहुत सुंदर हैं। लैंगतांग (ग्लेंग थोंग), पोटो (पो) और ड्रैगैब (ब्रैग रिगब) जैसे विख्यात मठ इस क्षेत्र के उच्च एवं निम्न क्षेत्रों में स्थित है। उन सभी प्राचीन कदंप मठों में कई स्तूप थे। भारत में भी, सारनाथ और नालंदा मठों के अवशेषों में विभिन्न आकारों के अनगिनत स्तूप हैं। अतः इसे एक प्राचीन परंपरा माना जा सकता है। फेन्युल में सबसे पुराना मंदिर ग्याल लखांग (rgyal lha khang) है, जो फेन्युल के ऊपरी भाग में स्थित है। इसकी स्थापना झांग नानम दोरजे वांगचुक ((zhang rna nam rdo rje dbang phyug)[1], लुम; (क्लू मेस) के शिष्य ने की थी, जो राजा लैंग दामा दर्मा द्वारा बौद्ध धर्म के दमन के लगभग 113 वर्ष उपरांत लामा चेनपो (ब्लो मा चेन पो)[2] के करीबी शिष्य थे। गोलों के अनुसार, यह मठ तिब्बत में स्थापित चार महान बौद्ध केंद्रों में से एक था। इस प्रकार यह तिब्बत में बौद्ध धर्म के बाद के प्रसार के दौरान निर्मित सबसे आरंभिक मठों में से एक मठ है। मठ के प्रार्थना सभागार के भीतर मैत्रेय की एक विशाल मूर्ति थी और लकड़ी के आवरणों के बिना ऊंचे ऊंचे शास्त्र ग्रंथ थे। इस तरह के ग्रंथ राडारेंग और शाक्य मठों में भी पाए जाते हैं। इनमें से अधिकांश ग्रंथ प्राचीन लिपियों में लिखे गए थे। मैं इन प्राचीन लिपियों के विभिन्न रूपों पर बाद में एक अलग खंड में चर्चा करूँगा।

इसी मठ के एक कोने में विशुद्ध भारतीय शैली में मैत्रेय की छवि थी जिसमें वह दो परिचारकों के साथ हैं। पंडित (राहुल) इस छवि को देखकर हैरान और चकित थे और उन्होंने कहा इसे भारत से लाया गया था। जब हम दीपक लेकर और नजदीक गए तो हमने उस छवि के पीछे एक बैनर टंगा हुआ पाया:

> मैत्रेय की यह छवि
> स्थापित की गई थी इस भव्य पवित्र स्थान में,
> भक्त संरक्षक सांग दो कोन सेग स्वरा,
> प्रभु मुझे ज्ञान दे!
> ऊं मे ह र न हुम!

इस प्रकार इस चित्र का निर्माण तिब्बत में एक भारतीय कलाकार ने किया था। प्राचीन पत्थर की नक्काशी पर इस तरह के छंद भी पाए गए थे। यद्यपि कई विद्वानों द्वारा लंबी ध्वनि के साथ ÍÐôù के लेखन के कड़े विरोध के उपरांत भी अधिकांश प्राचीन ग्रंथों में यह है। प्राचीनकाल में जब भारतीय ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया

फेन्युल ल्हासा और एक पहाड़ के बीच स्थित है, और फेन्युल में ल्हासा से अधिक संख्या में मठ हैं। फेन्युल का जो ऊपरी भाग है, वह विशाल मैदानी भागों के साथ एकदम मैदानी चारागाह क्षेत्र की तरह है और इसके प्राकृतिक दृश्य बहुत सुंदर हैं। लैंगतांग (ग्लेंग थोंग), पोटो (पो) और ड्रैगैब (ब्रैग रिगब) जैसे विख्यात मठ इस क्षेत्र के उच्च एवं निम्न क्षेत्रों में स्थित है। उन सभी प्राचीन कदंप मठों में कई स्तूप थे

गया था, तो सटीक भारतीय ध्वन्यात्मकता को बनाए रखा गया था। यहां तक कि कुछ ग्रंथों में, जिनके अंत में अनुवादकों के नाम हैं, "z²Ï" को "º z º &º21/4-" के रूप में लिखा गया है। तो तिब्बती में संस्कृत शब्दों का संस्कृत शैली में लेखन आधुनिक विद्वानों द्वारा आरंभ किया गया प्रतीत होता है। हालाँकि, आधुनिक समय में, संस्कृत शब्द प्रजाना को तिब्बती भाषा में "s³|Ø-" के रूप में लिखा जाता है, इसे तिब्बती शब्द "|³|¼-" के रूप में उच्चारित किया जाता है। अधिकांश प्राचीन ग्रंथों में, इसे "q¼-ºHº- के रूप में लिखा गया है, जिसका उच्चारण और बेहतर किया जा सकता है। इससे अधिक विवरणों की चर्चा बाद में की गयी है।

राहुल ने मुझे बताया कि तिब्बत के पुराने मठों में भंडार की तरह भारतीय धातु के चित्रों और कटावदार चित्रों के भंडार के बीच, उन्होंने भारतीय शैली के पत्थर के चित्र नहीं देखे थे जैसी पत्थर की छवि हमें एक अंधेरे कमरे में मिली थी (ग्याल लखांग की)।

ग्याल लखांग एक दक्षिणी पहाड़ के करीब है। इसका सबसे नजदीकी पहाड़ है राइडिंग पहाड़, जो वर्तमान मठ के लिए एक बहुत अच्छे स्थान के रूप में कार्य कर सकता है। तथापि मठ का निर्माण पहाड़ के स्थान पर मैदान पर किया गया था। सामान्य तौर पर, तिब्बत के प्रारंभिक धर्म राजाओं द्वारा निर्मित मठ और मंदिर और वह मठ और मंदिर जिनका निर्माण बाद में बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार के लिए किया गया था, उन सभी का निर्माण मैदानी क्षेत्रों में किया गया था। बाद में, मठों को ऊंचाई पर पहाड़ी पर बनाया गया। मध्य भारत में, कुछ पहाड़ थे और सभी मठ और मंदिर जैसे नालंदा मठ और महाबोधि मंदिर मैदानी क्षेत्रों में निर्मित हुए। इसलिए, मुझे लगता है कि उपरोक्त मठों को भारतीय शैली में बनाया गया था। भारत में जब भी लोगों को कोई भी छोटी सी पहाड़ी मिलती है, तो वे इसे एक विशेष नाम देंगे, जैसे 'पहाड़ों का राजा' और इसे बहुत पवित्र मानते हैं। वे इस पर मंदिर बनाएंगे।

विक्रममाला गंगा के किनारे एक ऊंची चट्टान पर स्थित है। नदी के बीच में चट्टान और नदी के किनारे पर चट्टानी पहाड़ी को छोड़कर, उस क्षेत्र में कोई पहाड़ नहीं है। शाक्य पंडित ने सही कहा कि गिद्ध चोटी भारत का एक विशाल पर्वत है। प्राचीनकाल में भारत का अर्थ मात्र मध्य भारत से होता था, तथा दक्षिण भारत में विनय जैसे कई पर्वत थे और कई पर्वत ऐसे थे जो उत्तरपूर्व महासागर की तरफ मुंह किए थे।

ग्याल लखांग एक दक्षिणी पहाड़ के करीब है। इसका सबसे नजदीकी पहाड़ है राइडिंग पहाड़, जो वर्तमान मठ के लिए एक बहुत अच्छे स्थान के रूप में कार्य कर सकता है। तथापि मठ का निर्माण पहाड़ के स्थान पर मैदान पर किया गया था। सामान्य तौर पर, तिब्बत के प्रारंभिक धर्म राजाओं द्वारा निर्मित मठ और मंदिर और वह मठ और मंदिर जिनका निर्माण बाद में बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार के लिए किया गया था, उन सभी का निर्माण मैदानी क्षेत्रों में किया गया था

ग्याल लखांग के द्वार पर, एक चारों तरफ मुंह किए गए पत्थर का स्तंभ है जो एक खड़े हुए आदमी की तरह लगता है। स्तंभ के सभी चार चेहरों में वज्र डिजाइन भी है। स्तंभ की पूर्वी दिशा की तरफ तिब्बती भाषा में ही एक शिलालेख हैं। इसका अनुवाद इस प्रकार है:

हैं यहाँ स्थापित, आज
वह लोग जिनके पास पवित्र कार्यों के लिए एक सोच थी,
मगर वह लोग जो तीन रत्नों का सहारा चाहते थे, वह
बुद्ध की शरण में आएं,
धर्म में अपना भरोसा दिखाएँ
अपने मस्तिष्क एवं अपने दुराचरण
को पवित्र करें
एक पवित्र जीवनयापन करें
धर्म के सिद्धांतों पर जिसके कदम चलें
चर्चा के माध्यम से जो मिलजुल कर निर्णय ले
बुरी योजनाओं को करें अनदेखा,
और सच बोलें
यह उसे इस जीवन में ही नहीं बल्कि
उस जीवन में भी लाभ देगा
वह दस शब्द (एक या दो पंक्तियाँ यहाँ स्पष्ट नहीं हैं)
उन्हें ध्यान में रखें बिना भूले

कुछ और पंक्तियाँ भी उसके बाद परन्तु वह मान्य नहीं हैं। उपरोक्त पंक्तियों में, पहली पंक्ति में "uÛ-" शब्द का कोई प्रत्यय "¼" नहीं था। इसी प्रकार ±ÛGÅ-शब्द ±ÛG [Å±- प्रत्यय के बिना] के रूप में लिखा गया था। बहुत प्राचीन ग्रंथों ने gi gu (í) को उलट दिया है, लेकिन यहां सभी हप हन सामान्य हैं। यह ज्ञात नहीं है कि किस लामा या राजा ने इसे स्थापित किया था। "यहां पर जो स्थापित शब्द हैं (btsugs pa la) वह स्थापित करने वाले व्यक्ति की शक्ति को प्रदर्शित करता है। स्यो गिव्यर सो सोर ब्लैंग/नगां ग्रोज द्गैग तू द्युब्युग वक्तव्यों से यह प्रतीत होता है कि इसे एक राजा द्वारा स्थापित किया गया था जो त्रि धर्मा (खारी दार मा) का भतीजा तशी त्सेक (बकरा शिश त्सेग्स) या उसके बाद के राजा वोद (ओद सडे) हो सकता था। घर के बरामदे में एक स्तंभ था, मगर आज परिवार घर पर नहीं था और दरवाजा बंद था। हमें यह बताया गया कि फेन्युल में कहीं एक या दो खंभे थे। वे तीर्थयात्री जो जल्दी में नहीं हैं, यह अच्छा होगा यदि वह स्तंभ पर उकरी हुई कलाकृति की प्रति बना सकें। मैं ल्हासा स्तंभ के शिलालेख को बाद में इस खंड में लिखूंगा जब मैंने कुछ नए ऐतिहासिक तथ्य लिखे हैं जो मुझे मिले हैं।

ग्याल लखांग से थोड़ी दूरी पर एक सुखद पहाड़ी के किनारे एक छोटा सा महिला मठ था। हमें बताया गया कि यह पाटसाब महिला मठ था। यह महान लोटसवा [पाटसाब] का पद था। वहां पर बुरी हालत में एक छोटे से मंदिर के अतिरिक्त कुछ नहीं था। जब मैं ऐसे महान बौद्ध केंद्रों पर गया जिसका एकदम सटीक स्थान तिब्बती स्रोतों में नहीं बताया गया था, सिवाय इसके कि वे यू-त्सांग में थे, मुझे अत्यधिक हर्ष एवं

अवसाद दोनों का ही अनुभव हुआ। अधिकांश कदंप मंदिरों की डिजाइन सरल है और वहां पर लकड़ी के खंभे हैं जो टेढ़े हो गए हैं। तथापि वह मेरे लिए आशीर्वाद का स्रोत थे, और उन्हें देखने से मेरे हृदय में विश्वास एवं उल्लास दोनों ही उत्पन्न हुए। फेन्युल एक बहुत ही सुखद क्षेत्र है और इसके लोग अच्छे स्वभाव वाले हैं।

इसके बाद हम टैक्लांग (स्टैग लंग) से होते हुए रैडेंग मठ गए। हमने मठ में छवियों और जुनिपर पेड़ों को देखा। मुझे हैरानी हुई कि क्या कोई पवित्र स्थान इतना सुंदर और सुखद हो सकता है। मैंने सुना है कि वहाँ कुछ भारतीय पांडुलिपियां थीं, लेकिन मठ के प्रबंधक को यह संदेह था कि पंडित विदेशी हैं और इसीलिए उसने हमें अंदर नहीं जाने दिया। पंडित शुद्ध गहरे रंग वाले भारतीय थे और किसी को भी ऐसा नहीं लग सकता था कि वह विदेशी हैं। भिक्षुओं को दोष नहीं दिया जा सकता - यह उनके दूसरे देशों के ज्ञान की कमी के कारण था। पश्चिमी और उत्तरी भारत के लोग, अपने गहरे रंग को छोड़कर, सभी पहलुओं, रंग और शारीरिक चरित्र में रूसियों के समान दिखते हैं। यदि वे अन्य देशों में जाते हैं, तो उन्हें रूसी ही माना जा सकता है।

जोनांग कुंकने के अनुसार, "मुझे राडेंग में कई ग्रंथों जैसे कि शांतिपाठ के हेवज्र मूलतंत्रराज (ब्रटग ग्नीस) और अनंततंत्र (दाग नग नी रुगड) पर जो व्याख्याएं प्राप्त हुई हैं उनमें अतीश का नाम अंत में है। मैंने ग्रंथों की शुरुआत से बेतरतीब ढंग से दो पन्ने लिए।" यह स्पष्ट करते हुए कि जो उन्होंने कहा वह सच था, मठ वाले ग्रंथ वही हो सकते हैं जो उन्होंने बताए। यद्यपि अपनी आत्मकथा के अनुसार, ड्रोम ने आतिशा के निधन के बाद सभी ग्रंथों को भारत भेज दिया। इसलिए मठ में कई भारतीय पांडुलिपियां नहीं हो सकती हैं। हमें बताया गया था कि मठ में मौजूद कुल भारतीय पांडुलिपियां इतनी हैं जो एक व्यक्ति के सूटकेस में समा जाएं। इसके अतिरिक्त, मंदिर में सैकड़ों हजारों ग्रंथ थे, जो यह माना जाता है कि आम नागरिकों द्वारा लिखे गए भारतीय ग्रंथ हैं। वे सभी वास्तव में तिब्बती ग्रंथ हैं। अधिकांश भारतीय पांडुलिपियों को ताड़ के पत्तों पर लिखा गया था और उनकी लंबाई चार अंगुल (चौड़ाई) से अधिक नहीं हो सकती है। पत्तियां लंबी थीं, इसलिए वे इतनी व्यापक कैसे हो सकती हैं? जब भगवान मिला ने चरवाहों से पूछा कि मारपा कहाँ रहता है, दारमा दोद नामक छोटे लड़के (दर मा मदो सडे) ने कहा, "ओह, तुम मेरे पिता की तलाश कर रहे हो! वह भारत से बहुत सारे पतले और लंबे शास्त्र ग्रंथों को लेकर आएंगे।" इन भारतीय पांडुलिपियों के बारे में विवरण इस खंड में बाद में उल्लेख किया जाएगा।

रेडेंग मठ की देखभाल करने वाले ने हमें पवित्र अभ्यावेदन समझाया। परिधि मार्ग पर दो जुनिपर पेड़ थे। "यह एक सफेद चंदन है, वह एक लाल चंदन है," उन्होंने हमें बताया। पंडित हँसे और उन्होंने मजाकिया अंदाज में कहा , "चंदन के पेड़ों को उगने के लिए बेहद गर्म जलवायु की आवश्यकता होती है, वे मध्य क्षेत्रों में भी नहीं पाए जाते हैं; वे केवल दक्षिणी क्षेत्र में पाए जाते हैं। वे यहां कैसे आते हैं?" यद्यपि वह इस विषय में परिचित नहीं थे कि स्थानों, समय और कारणों के बारे में सोचे बिना हमारे लोग कई चमत्कारिक चीजों के बारे में बात करते हैं। वहाँ से, हम ल्हासा लौटे और फिर भारत की ओर चल पड़े। यमद्रोक (यार ब्रॉग) के रास्ते, होर के सातवें महीने के करीब हम ग्यात्से (रयांग त्से) पहुंचे जो एक नदी द्वारा झालू और ताशी लूनपो (बकरा शीश लोन पो) को अलग करती थी। ग्यात्से से, उत्तर की ओर पैदल एक दिन की यात्रा के बाद, हमने एक पहाड़ी पर पोकेंग (स्पोस खांग त्शो जीएस पीए) नामक एक छोटा मठ देखा। हम वहां गए।

यह उन चार मठों में से एक है जिसे च्च्लुंग त्सोकपा कहा जाता है, जिसे महान भारतीय भिक्षुक महापंडित (शाक्यश्रीभद्र) के समय में स्थापित किया गया था। मूल रूप से, इसे पहाड़ी के तल पर बनाया गया था, लेकिन बाद में इसे वर्तमान स्थल पर फिर से बनाया गया। इसके पास ही एक पुराना मंदिर था। इसे सीमावर्ती उप-मंदिरों (मठ दुल) में से ही एक माना जाता है, लेकिन मुझे नहीं लगता कि यह सच है। मंदिर में महापंडित शाक्यश्री की अन्य पवित्र वस्तुओं के अतिरिक्त वस्त्र और कटोरे भी थे। वस्त्र गहरे भूरे रंग के थे। बर्मी संन्यासी इस रंग के वस्त्र पहनते हैं। जब नाक्स्तो (नाग श्टीशो) ने अतीश से मुलाकात की, तो अतीश को भूरे रंग के कपड़े पहनने के लिए कहा गया था - यह भूरा रंग गहरे दाग का परिणाम नहीं था। सक्याप्स केवल थरमा (ऊनी कपड़े) गुणवत्ता के भूरे वस्त्र पहनते हैं। आरंभिक चित्रों में सुनहरे चेहरे और भूरे रंग के वस्त्र हैं, और मुझे आश्चर्य है कि क्या यह परंपरा खाम में लोकप्रिय है। जे [त्सोंगकपा] द्वारा खेडरूप [गेलेक पालजैंग] को भेजे गए पत्रों में से एक में, यह उल्लेख है, "मैं आपको उपहार के रूप में विशेष भूरे रंग के वस्त्र प्रेषित कर रहा हूँ ..." अतः, एक विशेष अवधि के दौरान भूरे रंग के वस्त्र पहनने की परंपरा अत्यधिक लोकप्रिय हो गई। फूलों की माला (मी तोग फ्रेंग र्ग्युद) में मैरून, लाल गेरू (सैग) और नीले रंग के परिधानों की अनुमति है। यहाँ लाल-गेरू या त्सग इस भूरे रंग का उल्लेख कर सकते हैं।

श्रीलंकाई भिक्षु केवल कमल के प्रतीक के साथ भगवा रंग के वस्त्र पहनते हैं। आजकल, भारतीय भिक्षुओं के पास कोई लेबल नहीं है। उनके भिक्षा के कटोरे आकार में श्रीलंका के भिक्षुओं के समान हैं, और उनके भीतर का जो हिस्सा है वह क्रीम रंग का है। उनके पास कोई उच्च आधार नहीं

हमें बताया गया था कि मठ में मौजूद कुल भारतीय पांडुलिपियां इतनी हैं जो एक व्यक्ति के सूटकेस में समा जाएं। इसके अतिरिक्त, मंदिर में सैकड़ों हजारों ग्रंथ थे, जो यह माना जाता है कि आम नागरिकों द्वारा लिखे गए भारतीय ग्रंथ हैं। वे सभी वास्तव में तिब्बती ग्रंथ हैं। अधिकांश भारतीय पांडुलिपियों को ताड़ के पत्तों पर लिखा गया था और उनकी लंबाई चार अंगुल (चौड़ाई) से अधिक नहीं हो सकती है

है, इसलिए उन्हें आसानी से जमीन पर रखा जा सकता है। भारतीय भिक्षु जूते पहनते हैं, जिसमें कपड़े से बने तलवे होते हैं, और ऊपरी हिस्से जो काले किनारों के साथ लाल होते हैं। मैंने इन जूतों का एक स्केच बनाया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह मठवासी व्यवस्था अत्यंत ही अनुकरणीय है तथा इनमें वह प्रमाणिकता एवं पृष्ठभूमि कारण हैं, मैंने जिनके विषय में संक्षेप में यहां लिखा है।

सबसे आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि एक भारतीय शैली की स्क्रॉल चित्र हैं जो महापंडित शाक्यश्री के मुख्य देवता अवलोकितेश्वर (डॉन झाग् ल्हा लिंग) की पांच तांत्रिक अभिव्यक्तियों को प्रदर्शित करता है। यह चित्र अत्यंत ही उच्च गुणवत्ता का है एवं बहुत ही खूबसूरत है। कहा जाता है कि यही उनकी जीवनी में लिखा हुआ है। गुप्त काल के यह चित्र अब न तो भारत में प्राप्त होते हैं और न ही तिब्बत में। इन चित्रों में कोई खास क्षति नहीं हुई है। इस चित्र में सेवकवर्ग में हयग्रीव के हाथ के ऊपरी हिस्से हाथी की सूंड जैसे हैं। प्रारंभिक राजाओं के मंदिरों में, क्रोध प्रकट करने वाले देवताओं को इस तरह से चित्रित किया गया है। मुझे ज्ञात हुआ है कि चित्रकला की यह शैली अभी भी खाम में मौजूद है। इस तरह के क्रोधी चेहरे, मुंह के साथ, जिसमें श्वदंत होते हैं और बाघ की तरह दिखते हैं, गर्दन स्पष्ट दिखती नहीं है तथा वह बहुत शानदार दिखाई देते हैं। इस शैली की चित्रकला तिब्बत में बहुत पहले नहीं थी।

हमें कुछ भारतीय पांडुलिपियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें आठ हजार छंदों में प्रज्ञापारमिता भी सम्मिलित है जिसे शाक्यश्री का व्यक्तिगत पाठ माना जाता है। अश्वघोष की तीन सामान्य प्रथाएँ थीं। योंग्स क्यी गतम पर एक भारतीय ग्रंथ था, जिसमें लेखक का नाम था, जिसके अंत में "भिक्षु दीपंकर पुटकिया" लिखा हुआ था, जिसका अर्थ है 'अतीश का ग्रंथ'। इसमें प्रत्येक पृष्ठ पर पाँच पंक्तियों के साथ लंबे आकार के 56 पृष्ठ थे। अभिसमयालंकार का भी एक ग्रंथ है। चोस ग्न्यिज रणाम ग्रेल पर भी एक छोटा ग्रंथ है। इसमें एक और पंक्ति है - यात्से द्वारा दान। हमें झालू में यात्से द्वारा दान किया गया एक भारतीय ग्रंथ भी मिला। धर्म राजाओं के वंशजों में से कुछ को यात्से राजा कहा जाता था, इसलिए मुझे लगता है कि यह क्षेत्र नगरी का एक हिस्सा है। भारतीय ग्रंथों को राजा विक्रमशील के सिंहासनारोहण की 1,370 वीं वर्षगांठ पर लिखा गया था। उस बाघ वर्ष तक, 1,074 वर्ष [पश्चिमी कैलेंडर के अनुसार] बीत चुके थे। अधिकांश भारतीय पांडुलिपियों के अंत में लिखी गई तिथियाँ इसी तिथि पर आधारित थीं। बाद में, एक बाघ वर्ष [1938] में, पांडित और मैं, दो भारतीय साथियों के साथ, भारतीय पांडुलिपियों की खोज करने के लिए तिब्बत आए; हमने कई दिनों तक भारतीय पांडुलिपियों की खोज की। मुझे उन्हें करीब से देखने का अवसर मिला। मैंने अपनी दोनों यात्राओं के दौरान जो कुछ भी देखा है उसे लिखूंगा।

झालू और शाक्य एक दूसरे के समान थे। इसके उपरांत, ताशी लूनपो के माध्यम से, हम झालू रिपुक पहुंचे। कुखेन बू (बूस्तन) के निवास में केवल एक स्तंभ था और दीवारें बिना पेंट के थीं। कमरे में प्रकाश आने देने के लिए कोई खिड़कियां नहीं थीं; प्रकाश द्वार से ही आता था। यहां तक कि उपस्थित भिक्षुओं का आवास भी अत्यंत ही गंभीर स्थिति में था। कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों को दो ग्रे लकड़ी के बक्से में रखा गया था, आकार में तीन हाथ के गोले और ऊंचाई में छह थोस[3] थे। हमें बताया गया था कि ये दोनों बक्से बुटन के थे। कई तिब्बती ग्रंथ भी थे। लगभग नौ कपड़ों में एक ग्रंथ लिपटा हुआ था, जो किसी को भी पता नहीं था। जब मैंने इसे खोला, तो यह बुटन के सगरों ग्साल ब्षद स्ब्यार मथा ड्रग ग्साल बा का प्रथम संस्करण था, जो चंद्रकीर्ति के प्रदीपोद्योद्यान पर टीका थी। ग्रन्थ के आरंभ में ही यह कहा गया कि यह ग्रंथ उनके आध्यात्मिक पुत्र लोत्सवा ने लिखा है और इसे खोना नहीं चाहिए। पीली पंक्तियाँ थीं जिन पर पाठ को वर्तमान खाम ब्रिज लिपि के समान छोटी यूम लिपि में लिखा गया था और ग्रंथ एक या दो वर्ष पुराना ही दिख रहा था। यह सोचकर कि यह ग्रंथ जे सोंग्कापा द्वारा लिखा गया था, बिना किसी विशेष कारण के, मुझे एक दुखद अनुभूति हुई। अन्य ग्रंथों की बहुत कम देखभाल की गई थी। शाक्य मठ के गोरुम मंदिर में, एक बार जब हमने कुछ क्षतिग्रस्त पांडुलिपियों को छाँटने की कोशिश की, तो भारतीय ग्रंथों के पाँच खंड मिल गए। यह कहते हुए कि अव्यवस्थित ग्रंथों को रखने से दुर्भाग्य आएगा, कुछ धार्मिक लोगों ने कचरे के ढेर के बीच सभी को एक निचले कमरे में फेंक दिया। सभी ग्रंथ बर्बाद हो गए।

भारत में भी ताड़ के पत्ते की पांडुलिपियां बेहद दुर्लभ हैं। इस तरह की मूल्यवान चीजों का इस तरह से व्यवहार किया जाए तो यह चौंकाने वाला तथ्य है। कुछ श्रद्धालु लोग ग्रंथों के एक पूरे सेट से एक या दो पन्ने चोरी करते हैं और उन्हें एक ताबीज के रूप में अपनी गर्दन पर पहनने के लिए उपयोग करते हैं। कुछ लोग पृष्ठ को टुकड़ों में काटते हैं और आशीर्वाद के रूप में खाते हैं। कुछ लोग उन्हें अवशेषों के रूप में मूर्तियों और स्तूपों के अंदर डालते हैं। यह ग्रंथ कभी प्रकाश में नहीं आएंगे। इस तरह के कृत्य ध र्म की धारा को बहुत नुकसान पहुँचाते हैं, फिर भी वे दूसरों के लिए अपने काम का दावा करते हैं।

रिपुक में हमने भारतीय पांडुलिपियों को वर्गीकृत किया और उन्हें क्रमबद्ध किया। ग्रंथों के 42 बड़े और छोटे खंड थे, जिनमें से कुछ में निम्नलिखित शामिल थे:

ग्रन्थ का नाम	लेखक	स्थिति
तर्कज्वल (द्वितीय संस्करण)[4]	भवविवेक	पूर्ण, यह मूल ग्रंथ है, टीका नहीं
अभिधर्म समुच्चय		अपूर्ण
प्रज्ञापारमिता		अपूर्ण
गुह्यसमाज		अपूर्ण
बोद्धिश्चित्त		अपूर्ण
त्रिसंवर	प्रवेध	
दम त्शिग ग्सुं ब्कोद प'इ ग्र्याल पो संगों दू ब्सन्यें पी आई चो गा	जयप्रभा	कई भिन्न पंक्तियों के साथ लंबे 6 पत्ते

ग्रन्थ का नाम	लेखक	स्थिति
प्रज्ञापारमितिका		अपूर्ण
मंजूश्रीनामो समगति		पूर्ण कागजों पर लिखित
सिद्धिकबिरतंत्र		अपूर्ण, 14 शीट, छोटा आकार
तरतुत्रतिका		अपूर्ण
त्रिशिंक	वसुबंधु	पूर्ण
प्रज्ञापारमिताप्रज्ञापारमितापिंदार्थ	दिग्नाग	
त्रिशिरतिकरिंक (गद्य में)	असंग	
गुह्योंद्रतिलकलपरज		फोलियो शुरू से अंत तक नहीं है,
छोटी लंबाई, हर पृष्ठ में आठ पंक्तियां		
खम्स ले'इ द्रि-मेद ओद		पूर्ण, शानदार स्थिति में 46 पृष्ठ

एक सौ हजार छंद का सोलहवां खंड भी पत्तियों पर लिखा हुआ है। यह ग्रंथ पूरी तरह सुरक्षित है। ग्रंथों के चार संस्करणों में से एक का संपादन जेत्सुन द्रक्पा ग्याल्तसेन (रजे बसून ग्रेग अप र्ग्याल म्स्शन) ने किया है और यह नेपाल में प्राप्त हुआ है तथा अन्य थीं शाक्य मठ में।

अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता की एक अच्छी तरह से संरक्षित पांडुलिपि भी है। कई तिब्बती उपशीर्षकों के साथ लगभग 16 पन्ने लंबा एक ग्रंथ था जैसे कि दे न्यीद ब्चू न्यीद (मंत्र के दस शब्द), साबिन स्ग्रेग क्यी चो गा (अग्नि परंपराएं), सिंग्स रज्ञान क्यी ले यू एन्येर ग्सिक पा द्र्जोग सो और गटर मा दे खो ना न्यिद (तोर्मा परंपराएं) लोपन रिनचेन सल्तुलिम द्वारा लिखित (स्लॉब डन रिन चेन तशुल खरीम)। इसमें सोलह खंड सम्मिलित हैं।

इनमें कई ग्रंथ ज्ञानश्रीमित्र के थे जिनमें: कालचक्र टीका, ठीक स्थिति में 46 फोलियो योगप्रभासना, बोधिस्तवज्र टीका, औषधि पर बिभूतिचंद्र कृत एक ग्रंथ सम्मिलित है। उनके द्वारा अन्य ग्रंथ थे, जैसे कि गजान ग्साल गई, रब तू ब्यिद पा थेम्स कैड म्खें पा ग्रब पा (लंबे और 16 फोलियो), स्केड सिस जीस के जिग पा ग्रब पा; शाद मा नंग दू; डबंग फ्यग रनाम बराबर स्पायोड पी। इन संस्करणों में, लेखक के नाम के बिना ग्रंथ थे इदान ग्रब कियु र्ग्यु द्प्योद पा, सेमस ग्न्यिस मेड पाई रेब ब्येद और यान लैग कैन मेड पा। ये सभी ग्रंथ आकार में लगभग बराबर थे और वे अच्छी स्थिति में थे। उनमें बारह खंड है।

हमें शीर्षक सिंग्स र्ग्यास खोल ग्यु न्यिस खरी मन नौग और फैग्स पा दे दून फाल चेन पाई जिग रतेन लैस दस पार समास बाई दुल बा (एक संस्करण लंबी शीट, अच्छी स्थिति) प्राप्त हुआ। गोलों ने अपने अपने ब्लू एनल्स में कहा कि यह ग्रंथ मद्य पर था। पैंचेन ने एक बार कहा था कि ग्रंथ था न्द गिक प और शजिग दस लास दास प रमा बा एक ही सूत्र से संबंधित थे तथा उनका विषय यौन दुराचार था। मुझे लगता है कि वह इन ग्रंथों का उल्लेख कर रहे थे। यद्यपि उनका वक्तव्य थोड़ा गलत है। हमें *महायानोत्तरतंत्रतिक्क* और *अभिधर्मप्रदीपभारती* के अधूरे ग्रंथ भी मिलते हैं जो कि वर्तु लिपि में लिखे गए हैं (लंबी, नौ पंक्तियाँ, 70 मूर्तियाँ)। बाद वाला ग्रंथ गद्य रूप में और उसकी टीका में ही मूल रूप था।

तिब्बती में टिप्पणियों के साथ संस्कृत में नागार्जुन द्वारा लिखा गया *विग्रह-व्यवर्तनी* का ताड़पत्रों पर लिखा एक ग्रंथ है, जिसके अंत में एक पंक्ति थी, 'नंब धर्मकीर्ति द्वारा लिखित।' पत्ते लंबे थे और उनकी आठ पंक्तियां थीं। लेखक जोर्त्सम्यी का शिष्य कहा जाता था। गुनप्रभा द्वारा लिखी गई विनय-सूत्र का एक ग्रंथ अधूरी टीका के साथ था। इसके शीर्ष पर एक पंक्ति 'शिला अकारा द्वारा व्याख्या' और इसके तल पर 'विक्रमशिला में मध्य वसंत महीने में नूब चंद्रकीर्ति द्वारा लिखित' वर्णित थी। यह ग्रंथ संस्कृत और तिब्बती लिपियों में लिखा गया था। लंबे 'ÍÛ' 'ÍÛºÛ-' के रूप में लिखा गया था। इसी प्रकार, '-Ù-' को '-' के रूप में ज्हबस क्यू '?' के साथ लिखा गया था। इनके अतिरिक्त शेष आधुनिक शैली में लिखा गया था। विक्रमशिला अब खंडहर में है, ऐसी हालत में भी कि इसका निशान लगभग नहीं दिख रहा है। लेकिन ग्रंथ अभी भी ताजा हैं। मुझे लगता है कि शिलाकर तेंग्पा लोत्सवा त्सुत्रिम जंग; था, जो जेवो त्सामी सांगेय द्रकपा का शिष्य था। उन्होंने भारत में पंद्रह साल बिताए और उन्होंने इतने वर्ष भारत में यात्रा करते हुए बिताए।

उन्होंने विनय और नीस खारी ग्रंथों में कई सुधार किए। कहा जाता है कि वे कई भारतीय ग्रंथों को तिब्बत ले आए थे। माना जाता है कि ये तिब्बती ग्रंथ उनके थे।

उनका जन्म नोगोक लादेन शेरब की मृत्यु के तुरंत बाद हुआ था। गालो के अनुसार, वह चक द्रकोम्पा के प्रमुख लामा थे। उनके समय को उस समय से चिह्नित किया गया था जब कई तिब्बती विक्रमशिला आते थे। ऐसा कहा जाता है कि विश्वविद्यालय में तिब्बतियों के लिए एक आम छात्रावास था।

नुब की लिखावट में भारतीय और तिब्बती भाषाओं में ताड़ के पत्तों पर लिखी गई मध्यमिका पर तिब्बती टीका के कुछ अव्यवस्थित ग्रंथ थे। यह प्रसन्न-पाद पर एक टीका थी। इसमें नागार्जुन की विशेष विशेषताओं की प्रशंसा है। ग्रंथ में यह उल्लिखित है कि कैसे बोधगया की इच्छाओं को पूरा करने के लिए चंद्रकीर्ति ने मध्य-मार्ग के सिद्धांत का समर्थन किया। चंद्रकीर्ति ने अपने पिछले जीवन को याद किया जिसमें उन्होंने बुद्धगया के रूप में जन्म लिया था और अपनी इच्छाओं के लिए ('बैड पाओ') के लिए प्रयास किया था। कुछ लेखक इस तरह से 'ओ' लिखते हैं। इस पाठ में, अनुवादक ने गलत तरीके से लिखा था कि तिब्बत में 'अंधेरे' को अभौतिक माना जाता है, और कहा कि अभय-भया में भया शब्द का अर्थ प्रकाश, सम्मान या सूर्य है। इसके अभाव का अर्थ है अँधेरा। यह एक तिब्बती भाष्य है, जिसमें प्रत्येक दो पंक्तियों के बीच में सांकेतिक भाषा में लिखा गया है।

ग्रंथ	लेखक	टिप्पणी
दोहाकोशतिक्क		- अपूर्ण
बर्तिकल्मकर	-	
सधिंशता	-	
करमब्रित	-	
अभिपोदकर्म	-	
पंचकर्मकृति	-	
अनुत्सत्ब्रित्री -		
काब्यप्रकाश	राजनका और ममता	
हेक्सधन	दारिका	
निमसम्तिति -		
बोधिस्तमलंकरम	कमलशील	
कुरुकुलासाधन	-	
लोकेश्वरमंडल	-	
आदिबुद्ध	-	
योगशार्ष	-	
स्रभत्र	सरहजनन्मित्र	
भूद्धनमकर	कुटिली	
कालचक्रतिक	-	
महायानलकश	-	
मूलदे लक्षशास्त्र	-	
कामशरा	-	
शंडोतिका	-	
सुधाश्री	-	
महा यत्न		

इसकी रचना राजा सिरुपला (भारतीय पाल राजवंश) के समय में हुई थी। प्रत्येक पंक्ति में लगभग 130 वर्ण हैं। इससे हमने देखा कि भारतीय ग्रंथों में शब्दों की संख्या अधिक है। हालाँकि, यह सामान्य है कि अनुवाद में शब्द स्रोत पाठ की तुलना में अधिक हैं। मुख्य बात यह है कि तिब्बती शब्द बहुत अधिक है।

उदाहरण के लिए, तिब्बती शब्द "ब्सृंग" में हमें सात अक्षरों की व्यवस्था करनी होगी। यह ज्ञात हुआ है कि शब्दों की अभिव्यंजक शक्ति अलग है शब्दों की संख्या में असंतुलन क्यों है। उदाहरण के लिए, 'मे' (अग्नि) के लिए 'अग्नि' शब्द है, 'चू' (जल) के लिए 'जल' है - दो या तीन भारतीय अक्षरों को केवल एक तिब्बती अक्षर में समाहित किया जा सकता है।

वहाँ एक बड़ी संख्या ताड़पत्र पर बनी तिब्बती पांडुलिपियों की थी, लेकिन यह इतनी अवैध थी कि मैं कुछ शब्द भी नहीं पढ़ सका। मुझे लगता है कि यह प्रज्ञापारमिता ग्रंथ और मूल पाठ अनुवादक द्वारा इस्तेमाल किया गया था। मंत्रों का एक बड़ा सुव्यवस्थित संग्रह था, जैसे कि पाँच प्रकार के धरणी (ग्र्वा ल्ग्ा)।

नाम	लेखक	स्थिति
त्रिलोचन -		
सरहमंजरी -		पूर्ण
चतुर्संगसधनतिक	समंद्रभद्र	
रहप्रतिस्वरहसिनिबंध	लोपन रिनचेन जुंगने[5]	
कृष्णायमित्रतंत्रिका	कुमार चंद्र	
वज्रमुद्रा-तंत्र	विमलप्रभा	11पंक्तियाँ लम्बे फोलियो में
कल्याणकदमनु	आर्य नागार्जुन	5 पृष्ठ सात पंक्तियों के साथ अपूर्ण
प्रतिशाविधि		- अपूर्ण
कालचक्रतिकविमलप्रभा		46 पृष्ठ अच्छी स्थिति में
योगमभिरसंडा -		
बोधिस्तवत्विका -		
जोत्सीषबोधपात्र	बिधिताचंत्र	
गजान सेल गई रब तू ब्येद पा	ज्ञानश्रीमित्र	तिब्बती अनुवाद अनुपलब्ध
थम कद मिखेन प ग्रब प		पृष्ठ, लघु आकार
महायोगतंत्र		अपूर्ण
अभिसंबोधिकम		पूर्ण

नाम	लेखक	स्थिति
दोहाकोशिका		अपूर्ण
वर्तिकालंकार	प्रजागुप्त	अपूर्ण
सवधिशंकमवतीर्ति	कुतली	पूर्ण
अभिषमोधिकम्		पूर्ण
पंचकर्मवती		
पंचकर्मवती		
अनुत्तरस्तत् विवर्तति		
स्वप्नवध्या		अपूर्ण
काव्यप्रकाश[6]	राजंगक मामत	अपूर्ण; 3 पृष्ठ 8 या 9 पंक्तियाँ
हरुकसादाना	महासिद्धि दरिकापद	
नामांगिति		अपूर्ण
बोधिस्तत्त्वकं	कमलाशिला	
कुरुकुल्सदन		
लोकिशवार्मदला		
आदिबुद्ध		
योग्सर्बश्य		
साराग्रस्तोत्र स्वराजमित्रा		
बुद्धमस्कर कुटली		
महायानलक्षम समुच्चय		
वज्रभैरव		
वज्रभैरवपात्रंजिका	कुमारचंद्र	
वज्रभैरवतंत्रराज		
मूल्देवशास्त्र		
कामशास्त्र		पूर्ण
शतान्नियोगतिका		पूर्ण
वसुधाधरनी		अपूर्ण
महामायतनं		पूर्ण
पाणिनि		
चंद्र्बाई कर्णविवर्ती[7]		
चंद्र्बाईकारन		
अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता		ताड़-पत्र पांडुलिपि और बुद्ध के चित्रों के साथ
चक्रसमाविवर्त	भबत	छोटे आकार, 53 पृष्ठ,। पंक्तियाँ
प्रत्येक पृष्ठ		
वज्रवर्हिटिका		26 पृष्ठ, प्रत्येक सात पंक्तियों के साथ
आम्बोगपाशकल्प्राजा		
पंचविंशतिहस्त्रिका		प्रज्ञापारमिता
क्रियतांतरवार्तिपंचिका		त्रिलोकांदास
अनुधि		
चंद्रबीर्करणविर्ति	चन्द्रमग्न	पूर्ण; सामग्री तिब्बती पारंपरिक कागज

नाम	लेखक	स्थिति
चन्द्रब्याकरणविवर्त	रतनमात्री	दीर्घ आकार; 200 पृष्ठ, 8 पंक्ति, ठीक स्थिति
चन्द्रब्याकरनतिका	पूर्णचन्द्र	
चतुरंगसधनातिक		अपूर्ण
थग पा चेन पो नी नीहू	आर्य नागार्जुन	अपूर्ण
रागन स्नैग		अपूर्ण
रनदो सडे रज्ञान		अपूर्ण
अष्टसहस्रिका	प्रज्ञापारमिता	अपूर्ण
ग्र्याल द्बंग बलों आई रब ब्यैद ग्साल इदं		
ले तूशन गनीस		अपूर्ण
बड़े म्चोंग गई ब्स्तोद ग्रेल	बोधिसत्व वज्रधारा	
रणाम बकास ब्स्दु बा आई इम्दो	पंडित ब्शेष ग्न्याँ	
गदां गजही सगरू ठिब		7 पंक्तियों वाला पृष्ठ
रणाम बकास ब्स्दु बा आई इम्दो	ये शेष बसें ग्न्यें	7 पंक्तियों वाले मध्यम के 208 पृष्ठ
स्दुद ग्रेल	सेंग जी बजांग पो	अपूर्ण
रक्तिमराजतंत्र		लघु आकार, 34 पृष्ठ, 6 पंक्तियाँ; पूर्ण
समाजमंडल		लंबे आकार के 7 पृष्ठ, 7 पंक्तियाँ
उप-भाष्य प्रमाणवार्त्तिक	मनोर्तदी	कागज पांडुलिपि, 7 पंक्तियों के साथ 100 पृष्ठों से अधिक
शाक्य पंडित की जीवनी के अनुसार, उन्होंने पंडित शाक्यश्री से त्शाद्मा पर एक टीका यिद क्यी शिंग रता ला दबा बा के विषय में सुना सुना था तथा उपरोक्त ग्रंथ ही वह थे जो उन्होंने कहे थे। अनुवादक के नाम का कोई उल्लेख नहीं था। मुझे लगता है कि उन्होंने भारतीय स्रोत से टिप्पणी सुनी होगी।		
श्रवण भूमि तथा प्रत्येकबुद्ध		शुरुआती और अंतिम पृष्ठ गायब हैं
समपुत		लंबे पत्ते, छह फोलियो
वज्रडाकिनीटीका		लंबा, 26 फोलियो, सात पंक्तियाँ
श्रावक-भाव और बोधिसत्वभूमि		लघु, 206 फोलियो, ठीक स्थिति, 35 पंक्तियाँ, थोड़ा क्षतिग्रस्त, इसमें एक टीका है जिसमें कहा गया है 'यत के लोपोन वोजर सेन्गे द्वारा प्रस्तुत;
ग्र्याल पो लुंग्स क्यी बतान ब्कोज		लघु, 3 पंक्तियाँ 35 फोलियो,
ऋण चेन फ्रेंग स्युद		ताड़ के पत्ते 23 पृष्ठ छोटे पत्ते, प्रत्येक के साथ 3पंक्तियाँ
शीर्षक के साथ एक व्याकरण ग्रंथ		
विमश्का कारिका		
"स्पैन ग्सुम पस रनाम पार दिपद		छोटी मात्रा
पा देइका ग्रेल ग्यी ब्येद पा कैन		
गई रैंकू प ब्स्दु बा आई कैंग पा		
दे फान गयि रंक्ग पा जुग्स शिंग		
चुद मा जोस "		
ग्संग दस रदों रजे सेमस	लिमलावजरा	छोटी शीट 4 फोलियो,
दीपा आई स्ग्रुब ठिब		कोनों से थोड़ा क्षतिग्रस्त है
नायबिंदुपंचिका		ताड़ पत्ती,
कालचक्र (तिब्बत में संक्रान्ति का प्रतिगमन)		

नाम	लेखक	स्थिति
नाग पो पाती रूडो आरजेईई ग्लू		23 फोलियो, सात लम्बी पंक्तियाँ
फाग पा ज्ञानियों सु मेड पार		पहला पृष्ठ गायब,
मन्याम पा न्यिद पार		22 खंड
ग्र्याल बाई र्तोग्स पा		
यह ग्रंथ थारलो का था जिसे न्यंग्तेस मांड्रो मंदिर से खोजा गया था, और इसका अनुवाद निश्चित ही ब्यूटेन ने किया था। इसलिए, पंक्ति से पहले का पाठ "इस प्रकार हजार की सौर प्रणाली को आशीर्वाद दिया गया था ..." गायब फोलियो के साथ चले गए थे। बाकी ठीक हालत में था। यह चीनी स्रोतों से अनूदित एकमात्र कंग्युर पाठ है।		
क्रियासमुच्चार	महासिद्ध दरवान	

हमने हर जगह खोज की तथा हमने उन अवेशषों की भी खोज की जहां पर भारतीय ग्रंथ थे, बगीचे के पीछे, यहां तक कि कूड़े के ढेर में भी, लेकिन हमें उपर्युक्त वर्णित ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य भारतीय पांडुलिपियां नहीं मिलीं। अभी भी कुछ भारतीय ग्रंथ हो सकते हैं जिनमें काफी पाठ हो। इसलिए, इच्छुक लोगों से अनुरोध है कि वे उन्हें खोजें। भारतीय ग्रंथों को पढ़ना वास्तव में कठिन है, लेकिन मैं यहां बड़ी मेहनत से यह सोचकर लिखता हूं कि कुछ तो संदेह का निराकरण होगा तो बेहतर होगा। कुछ लोग तिब्बती लैंजा लिपि में मोंग भाषा में अनुवाद करते हैं, जिसे बाद में पत्ता डिजाइन और सीमाओं में ड्रेगन द्वारा सजाया जाता है। तीन दिनों के बाद, स्वयं लेखक भी भ्रमित रहता है कि उसने क्या लिखा है। ऐसे कार्यों अपनी मेहनत करने के स्थान पर भारतीय भाषा को सही ढंग से लिखकर इसे सरल बनाना बेहतर है, भले ही वे बेहद कठिन शब्द हों, इसे आसान बनाने का प्रयास करें। ऐसा करने के उपरांत भी यदि कोई परिणाम नहीं निकलता है, तो किसी को शर्मिंदा होने की जरूरत नहीं है।

उसके उपरांत हम नगोर इवाम मठ, खेडरूप चेनपो कुंज्जंग की मठवासी सीट (म्खास ग्रब चेन पो कुन बजांग) पहुंचे। चूंकि मठ में खम के कई भिक्षु हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि कुंकने गोरम्पा की उपस्थिति अभी भी वहां है। न्गोरचेन के ग्रंथ खंगसर लबरंग (खंग गसार ब्ला ब्रांग) के निचले कमरे में पाए गए हैं। एक पूर्ण टेंग्यूर खंड थे, जो सभी ठीक स्थिति में हैं। छोटे और बड़े भारतीय ग्रंथों के 30 से अधिक खंड हैं। प्रज्ञापरमिता के सौ हजार श्लोकों का चौथा भाग बहुत ही ठीक स्थिति में था। ब्लू एनल्स के अनुसार, मुझे लगता है कि इसे किसी नेपाली व्यापारी ने शाक्यपा लोगों को दिया होगा।

अतीत में कई ग्रंथों को लिखने की परंपरा नहीं थी और ग्रंथों की विषयवस्तु भी मौखिक परंपरा के अंतर्गत एक शिक्षक द्वारा स्वयं उनके अपने शिष्यों को दी जाती थी। तिब्बत में, इस तरह के ग्रंथों को प्राप्त करना बेहद कठिन था। मैं यह नहीं कह रहा हूं क्योंकि मैं इस बारे में बात करने के लिए बहुत उत्सुक हूं, परंतु इस लिए कह रहा हूं कि मान लीजिए यदि हमें नर्तंग में पुराने तंत्र की भारतीय पांडुलिपियों का कोई भी कागज प्राप्त होता है तो हम यह मान सकते हैं कि इसे रिगरल और अन्य द्वारा पढ़ा गया है। जिन लोगों को भारतीय ग्रंथों की दुर्लभता के बारे में जानकारी नहीं है, उन्हें कई अफवाहें नहीं फैलानी चाहिए।

श्रमणेर पर ग्याल्सुंग तथा तिब्बती में माटी द्वारा की गई टिप्पणियों के साथ प्रतिमोक्ष संकल्प पूजा कृत्य का एक ग्रंथ है। पिछले ग्रंथ की ही भांति, यह हमारे पास मूल में नहीं है। इसके निम्नलिखित समापन छंद हैं:

प्रतिमोक्ष प्रतिज्ञा का यह भारतीय पाठ
माटी द्वारा श्रद्धा के साथ लिखा गया था
तुलनात्मक विश्लेषण करने के लिए और
कुछ संदिग्ध अर्थ स्पष्ट करने के लिए।
... (एक पंक्ति यहाँ याद आ रही है)
कुछ ऐसे मतभेद वहां पाए जाते हैं।
कुछ सही हैं
जिसकी जांच विद्वानों को करनी चाहिए।

यह श्लोक सजांग पंचेन की हस्तलिपि में तिब्बती आचेन लिपि में मोती जैसे अक्षरों के साथ लिखा गया था। पृष्ठ संख्या 23 के निचले आधे हिस्से को फाड़ दिया गया था। पृष्ठ पांच पंक्तियों के साथ कम लंबाई में थे और पंक्तियों के मध्य एनोटेशन थे। प्रदीपोद्योदांतिकेका का एक बढ़िया भारतीय ग्रंथ है जिसमें पाँच या छह पंक्तियाँ उत्कृष्ट लिखावट में लिखी गई हैं।

नाम	लेखक	स्थिति
सगरों ग्साल		भारतीय ग्रंथ, ठीक स्थिति
ब्रिगेड स्टॉन्ग		5 संस्करण कुछ अधूरे, बढ़िया इलस्ट्रेशन के साथ,
काला पा आईग्रेल पा		
सुप्रमथ	चन्द्र	
दगा बा आई रोल मो	कोगा	अपूर्ण

नाम	लेखक	स्थिति
दगा बा आई रोल मो	कोगा	अपूर्ण
प्रतिमोक्ष सूत्र		
लेग्स ब्शाद रिनचेन म्द्जोद		धर्मकीर्ति और कालिदास और अन्य प्राचीन विद्वान
के छंद का संग्रह		
चोस म्चोंग चुंग बा आई		पूर्ण, ठीक स्थिति
ग्रेल पा त्सोंग रिंग्स		2 ग्रंथ पूर्ण, अच्छा
सहधोखोष	सराह	पूर्ण
द्रिड मेड ओद		पांच या छह पंक्तियाँ, शानदार हस्तलिपि एक खंड
स्न्यान न्गैंग मी लॉन्ग		छोटा आकार, 23 पृष्ठ, 8 पंक्तियाँ पूर्ण
दक्षिण साधना पर टीका		31 पृष्ठ 8 या 9 पंक्तियाँ
रदों रजे स्नींग ग्रेल		
रदों रजे ग्सुम ग्यी रिनचेन	कालीकुलशी	
फतेंग बा		
हेवजरा मुलतांतराजा		
पर टीका		
कए रदों रजे आई ग्रब ठिब	कृष्णाचार्य	13 पेज 6 पंक्तियों के साथ;
इस पर तिब्बती में टिप्पणियां है		
दे खो ना नीद श्बंग बा		
अमरकोश का दूसरा भाग		
रिंग स्ब्यीं लैंब		
चक्रसामवारा पर टीका		
कालपा के टीआई और सी व्याकरणिक विश्लेषण पर टीका	लोपन जमद्रक	
एक शीर्षक बिना एक सूत्र,		74 पृष्ठ अंत में एक छोटा अध्याय है जिसका शीर्षक है तोंग पा चुब नगु ब्कोम आईदान मास म्द्जाद पा
विम्शाका कारिका पर टीका	वसुबंधु	
बोधिचर अवतारा	शेर ब्युंग बलों	
पर टीका		
चोस क्यी ब्दुद त्सी आईत्सिंग ब्कैद		धामपद और उदानवरंगा मिश्रित पृष्ठ

धम्मपद थेरवाद परंपरा का सबसे महत्वपूर्ण बौद्ध ग्रंथ है और इसका अनुवाद लगभग 100 विभिन्न भाषाओं में किया गया है। इसे ही कई पश्चिमी देशों में बौद्ध धर्म के प्रति भरोसा उत्पन्न करने का श्रेय दिया जाना चाहिए। यह मोद फ्राँ है, जो फ्रां त्शेग से संबंधित है जो सूत्र के पांच वर्गों में से एक है। तिब्बती टीशोम के अधिकांश छंद भी इसी से हैं।

नग्स रिन जी बस्टोड पा जैसी कुछ पांडुलिपियाँ थीं और एक छोटी ताड़ के पत्ते की पांडुलिपि जिसमें शाक्य लोत्सवा का

शीर्षक था जिसे सुखी भाषा में ताड़-पत्तों पर लिखकर लिखा गया था। अत्यंत ही अद्भुत चित्रों के साथ आठ हजार छंद प्रज्ञापरमिता के पाँच पूर्ण और अपूर्ण बड़े खंड हैं।

वहां के कुछ विख्यात भिक्षुओं ने एक अधम मार्ग पर चलने के लिए जे त्सोंगखापा की आलोचना की। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। उन्हें कई कारण दिए परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। फिर मैंने उनसे कहा, "अगर ऐसा है, तो दलाई लामा भी एक अधम मार्ग का अनुसरण करते हैं, क्योंकि वह भी जे त्सोंग्खापा का अनुसरण करते हैं।" उनके तर्क रुक गए थे। इससे स्पष्ट है कि इस तरह के तर्क आधुनिक तर्क में एक बड़े काम के हैं।

उसके उपरांत एक असाधारण रूप से पवित्र स्थान शाब्शुंग (शाब ग्शुंग) के माध्यम से, जहां कभी महान पंडित मित्रि ने चरवाहे के रूप में काम किया था, हम शानदार शाक्य में पहुंचे। हमने गोरुम मंदिर का दौरा किया, जहां पूर्व शाक्य स्वामी के ग्रंथ रखे गए थे। मंदिर में शास्त्रों के कई हजार खंड थे। मैंने बेतरतीब ढंग से ग्रंथों का एक बड़ा बंडल लिया जो मुझे पांडुलिपियों में प्राप्त हुआ था। यह पंडित विभूतिचंद्र की स्वयं की हस्तलिपि में कागजों पर लिखी गई प्रमाणवार्तिक पर एक शब्दावली थी। मेरे साथी पंडित ने कुछ और भारतीय पांडुलिपियों की खोज की उम्मीद में और लोगों की सहायता से उस कमरे में और भारतीय पांडुलिपियों की खोज की, लेकिन यह एकमात्र भारतीय पांडुलिपि थी जो हमें उस कमरे में मिली थी। यदि कोई और हमारे स्थान पर होता, तो वह निश्चित रूप से इस प्रकार के ग्रंथ को खोजकर आश्चर्यचकित रह जाता। तब हम चकपे ल्हाकांग (मंदिर पुस्तकालय) गए, जो एक सीढ़ी के दाईं ओर स्थित था, जिसमें लखांग चेंमो की तरफ जाते हुए कई कदम थे। हमने निम्नलिखित भारतीय पांडुलिपियों को भारतीय बौद्ध ग्रंथों के 30 से अधिक संस्करणों में पड़ा हुआ पाया:

प्रमाणवार्तिक-भाष्य - प्रमाण-वार्तिक के पहले अध्याय पर आत्म-टीका।

कर्णगोमिन कृत प्रमाणवार्तिक- इसके दो संस्करण हैं, जिनमें एक गायब है।

प्रज्ञाकरगुप्त द्वारा वर्तिकालंकार के पहले और दूसरे अध्याय में पत्तियाँ एक नुकीले सिरे से चौड़ी हैं और इसमें 13 पंक्तियाँ हैं। इसकी रचना विभूतिचंद्र द्वारा स्वयं अपनी हस्तलिपि में सा स्का में की गई थी, जो अपने गुरु महापंडित शाक्यश्री के साथ तिब्बत तक आए। अंत में, भारतीय भाषा में कई छोटे छंद थे जो बताते हैं कि उन्हें सीमाओं पर बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तरानाथ के खारी डॉन लदन ल्हाबों के अनुसार, विभूतिचंद्र ने जेट्सुन द्रकपा का सम्मान नहीं किया था, इसलिए वह अच्छी तरह से उपस्थित नहीं थे।

नाम	लेखक	विवरण
अमरकोश्तिक	चंद्रकीर्ति	अपूर्ण
नवश्लोक प्रज्ञापारमिता		पूर्ण
अष्टसहस्रिका-तयत	कंबलपा	
आर्यगुलिध्रना और आर्यगुलिकल्प		पूर्ण
अखसदन		पूर्ण
मंजुश्रीगुह्यचक्र		अपूर्ण
विनयसूत्रवृति	गुणप्रभा	
प्रेतमोक्षसूत्रटीका		अपूर्ण
विनयकारक	विशाख	
बोधिचर्या अवतार	शांतिदेव	
त्रिसंकंदेशना		पूर्ण
महामायातंत्रिका		
योगाचार्यभूमि	असंग	
अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता	रत्नाकरशांति	
अष्टसहस्रिका	मातृचेत	
दशरस्यनम	नागार्जुन	पूर्ण
चंद्रव्याकरण		अपूर्ण
अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता		अपूर्ण
युग्तिप्रदीप		
गुह्यसमाज मंडलोपायिका	भद्रपथ -	
दशभूमिक सूत्र		अपूर्ण
करंडवायु सूत्र		अपूर्ण
सद्धर्म पुंडरीक सूत्र		पूर्ण
पंचरक्ष		पूर्ण
अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता		अपूर्ण
प्रज्ञापरमिता सूत्र		3 सेट
शिखासमुच्च्य शान्तिदेव		अपूर्ण
पोषधनुषंस		अपूर्ण
विश्वान्तर-जातक		सिंहली
द्रि मेद ओद		सिंहली, अपूर्ण

अंतिम दो ग्रंथ सिंहली भाषा में श्रीलंका में रचित थे और उन्हें दुखोर के मठाधीश नग्रिन (नाग्स रिन) द्वारा तिब्बत लाया गया था। यह भारतीय पांडुलिपियाँ हैं जो हमें

तिब्बत में प्राप्त हुई। एक और भारतीय पांडुलिपि प्राप्त हुई है, जिसका संरक्षण गोरुम मठ किया जा रहा है और जिसे रोल पेपर पर लिखा गया था।

तनाक थुपतेन नामग्याल (र्त नग थुब ब्स्तान रणाम ग्र्याल) मठ में कुछ अधूरे सूत्र ग्रंथ भी थे जैसे लंकावतार सूत्र जिसके कुछ पृष्ठ गायब थे। डकपो में कहीं, जिसे हम डकैला गैम्पो भी कह सकते हैं, हमें प्रमाणवार्तिक (तसाद मा माम ग्रेल) का एक मूल ग्रंथ भी प्राप्त हुआ जिसके कुछ पृष्ठ भी गायब थे। [मेरे मित्र पंडित] ने इसकी प्रति बनाई और इसे भारत ले गए। ल्हासा में कुंडलिंग मठ के पुस्तकालय में, हमें तर्कशास्त्र पर शांतरक्षित की टीका पर एक छोटा ग्रंथ प्राप्त हुआ। पंडित ने इसकी भी प्रति बनाई। इसमें अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता और नमसंगतीर्ति (मंथन ब्रजोद) भी उपस्थित थे। हमें तिब्बती ग्रंथ बश; एनल्स (सबा ब्न्हेद ज्हबस ब्ग्यैस मा) के संपूरक अध्यायों की एक प्रति भी प्राप्त हुई है जो कि दुर्लभ है।

नर्ताग में, हमें अत्यधिक तलाश के बावजूद भारतीय ग्रंथ नहीं प्राप्त हुआ। वहां [तिब्बती] ग्रंथों के 500 से अधिक खंड थे जो कि चिम्म-रनाम[8] से संबंधित थे। बोधि चर्यावतार में ऐसी टीकाएँ थीं जो मेरे लिए सर्वथा नई थीं, जैसे चू मिग मा और यंग गगन मा। वहां पर सर्वाधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि बोधगया के मॉडल के दो जोड़े हैं, जिनमें महाबोधि मंदिर और इसके सभी पवित्र स्थान सम्मिलित हैं, जिनमें से एक का निर्माण काले पत्थरों से किया गया है और दूसरा सफेद चंदन से बनाया गया है। हमें बताया गया कि पत्थर भारत से लाया गया था। जहाँ तक पत्थर की गुणवत्ता की बात है तो वह सीतावन और बोधगया के समान ही प्राप्त हुए। कहा जाता है कि लकड़ी के मॉडल का निर्माण चिम् नमका द्रकपा द्वारा किया गया था और इसका निर्माण चीन में किया गया था। यदि हम सभी चार मॉडलों की परस्पर तुलना करते हैं, तो असली बोधगया, कॉम्डेन के फ्लावर ओर्नामेंट: धर्मकीर्ति के प्रमा गाविन्युचय (ज्ञान ज्ञी मी तोग)[9] पर टीका तथा चाक लोटसवा की यात्रा डायरी, तो हम पाते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक ही व्यक्ति द्वारा निर्मित

भारतीय पांडुलिपियां बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त इन ग्रंथों के हमारे देश में उचित स्थान को बताने के लिए मैंने उन स्थानों को सूचीबद्ध किया है। मैंने थेरवाद और भारतीय ग्रंथों की एक सूची बनाई है जो हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं। उनमें से कई एकल पृष्ठ पांडुलिपियां हैं, जो यह अंतर बताने के लिए अत्यंत ही उपयोगी हो सकती हैं कि यह तंत्र-मंत्र भारतीय या तिब्बती हैं

हैं। कुछ तिब्बती लामाओं का कहना है कि इस बोधगया का नाम कुछ तिब्बती लामाओं द्वारा रखा गया था, जो भारत पहुंचे, और जो असली है वह उत्तर में कहीं है। हमें उसी प्रकार इस तरह के भ्रामक वक्तव्यों से बचना था जैसे हम अपने मुंह में खराब चीजें थूक देते हैं। यद्यपि हमें अपेक्षा थी कि भारतीय पांडुलिपियों की उपलब्धता सामेय कोश में तो होगी ही, परंतु हमें बताया गया था कि उन दिनों कुछ भी नहीं था, और यह सच लग रहा था।

उपरोक्त सूची में उद्धृत मगधी में लिखी गई श्रीलंका की थेरवादिक परंपरा की पद्धति का अनुसरण भारतीय बौद्ध पांडुलिपियों द्वारा किया जाता है। हमें वही प्राप्त हुए थे। तिब्बत में अभी भी भारतीय पांडुलिपियों की संख्या सबसे अधिक है। उनमें से एक टीका यिद कए शिंग रता ला दगा बा और कर्णगोमिन की रचनाएँ तिब्बत को छोड़कर दुनिया में कहीं और उपलब्ध नहीं हैं - मुझे यकीन नहीं है कि यह उत्तरी शिमला के पुस्तकालय में भी उपस्थित है। यह अन्य भारतीय पांडुलिपियों के बारे में भी पूर्णतया सत्य है जैसे कि फाल चेन डुल बा, ये सेष डीप्याल गई टीशाद मा, तथा साथ ही बोधि सत्व भूमि एवं तंत्र पिटक। अन्य भारतीय पांडुलिपियां भी उसी स्थिति में हैं। अत: यह बहुत आवश्यक है कि इन ग्रंथों को न केवल संरक्षित किया जाए बल्कि यह भी सुनिश्चित कर लिया जाए कि यह देश के अन्य कुटिल और लालची लोगों के हाथों में नहीं आए। मेरे जैसे असहाय लोगों को इन ग्रंथों के बारे में अनावश्यक चिंता है। इसके बाद, पंडित नाम रखने वाले चालाक भारतीय चोरों से सावधान रहना बेहद जरूरी है। ये भारतीय पांडुलिपियां बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त इन ग्रंथों के हमारे देश में उचित स्थान को बताने के लिए मैंने उन स्थानों को सूचीबद्ध किया है। मैंने थेरवाद और भारतीय ग्रंथों की एक सूची बनाई है जो हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं। उनमें से कई एकल पृष्ठ पांडुलिपियां हैं, जो यह अंतर बताने के लिए अत्यंत ही उपयोगी हो सकती हैं कि यह तंत्र-मंत्र भारतीय या तिब्बती हैं। उन लोगों की परवाह किए बिना जिन्होनें इस दुनिया को त्याग दिया है, और जो कहते हैं कि इस दुनिया में सब कुछ बेकार है, व्यक्ति को नए ज्ञान की खोज में लगे रहना चाहिए।

शाक्य से दक्षिण की तरफ चलते हुए माजा (रम्या बाया) को पार करते हुए, हम द्रांगसो (द्रांग तो) [त्सांग में] पहुंचे। उस क्षेत्र के उत्तर में, नदी के उत्तरी तट पर एक पवित्र स्थान है जिसका नाम ग्याल्श्री अर्थात (रागल श्री) है और वह नागा साधुओं का ध्यान केंद्र है। जब मैं वहां पहुंचा तो मैंने पाया कि यह धूल से भरा हुआ पहाड़ है। डिंगरी (डिंग री) और ज्ञानंग (ज्ञान श्नंग) को पार करते हुए हम नेपाल पहुंचे। यात्रा के दौरान, पंडित का व्यवहार मेरे प्रति अत्यंत उदार था, इसलिए मुझे ज्यादा कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। यद्यपि कई बार मैं बिना किसी विशेष कारण के उदास हुआ था। यहाँ मैं उन सभी अनुभवों का विवरण नहीं देना चाहता हूँ जो मैंने यात्रा के दौरान अनुभव किए थे, क्योंकि इससे इस पुस्तक का मुख्य विषय गायब हो जाएगा।

नेपाल पहाड़ों से घिरे मैदान में स्थित है। इसकी एक तिहाई आबादी तिब्बती मूल की है। कई स्थानों के नाम हैं जैसे फेनपो (फान पो), फमतांग (फाम थन) और तमांग (आरटीए मग), त्संगखुग (गत्संग खुग) तथा इस जैसे ही जो तिब्बती नामों के समान हैं। कुछ घरों में तिब्बती लिपि में लिखे गए धार्मिक ग्रंथ रखे गए हैं परंतु उन्हें पढ़ना मुश्किल है। अपनी भाषा के अनुसार,

वे "ग्सिग" के लिए "ग्सिगा", "ग्न्यिस" के लिए "ग्न्यिसा", "ग्सुम" के लिए "ग्सुमा", "मिग" के लिए "मिगगा", "रना" के लिए "रनापों", सना के लिए "सने", "ला पाग" के लिए "लेग पा" कहते हैं। यह एक नई तिब्बती भाषा है। ये वनवासी नेपाली लोग हैं। कालांतर में गोरखाओं द्वारा नेपाल पर कब्जा कर लिया गया, जो राजपूतों के वंशज हैं, और भारतीय जातियों में से एक जाति है। मुझे विश्वास है कि मैंग्लोन मैंग्त्सेन (मंग ब्लोन मैंग बर्टन), ट्राइड त्सुकत्सेन (खरी आईडीई ग्त्सुंग ब्त्सन) तथा अन्य तिब्बती राजाओं के शासनकाल के दौरान, यह पूरा क्षेत्र तिब्बत के शासन में था। इसकी चर्चा यहाँ पर अनावश्यक विवाद उत्पन्न करने के स्थान पर बाद में की जाएगी।

यह कहा जाता था कि जब लामा रालो (रवा लो तस्वा बा) नेपाल की यात्रा पर आए तो, वहां केवल 500 इमारतें थीं। अब यह इतना विस्तारित हो गया है कि अकेले यंबू में 20,000 से अधिक भवन हैं।

हम नेपाल के शाही दरबार के पादरी हेमराज सरमन (गेजर र्याल) से मिले। उन्हें भारत और नेपाल में सभी बौद्ध और गैर-बौद्ध सिद्धांतों में विशेषज्ञ होने के लिए बहुत प्रसिद्ध कहा जाता है, जो एक महासागर के रूप में व्यापक हैं। जब हिंदुओं ने नेपाल पर आक्रमण किया, तो उन्होंने कुछ बौद्ध निवासियों को व्यग्र कर दिया था और वही था जो उसके लिए उत्तरदायी था। उसने वैदिक अनुष्ठानों का पालन किया। मैंने सुना है कि राजा के जीवन में एक समस्या थी जिसके निराकरण के लिए उसने एक अनुष्ठान किया था। स्त्री की एक खोखली प्रतिमा का निर्माण किया गया। राजा को महिला की प्रतिमा के भीतर डालकर निकाल दिया गया था, और यह दिखाया गया कि उसका महिला के गर्भ से पुनर्जन्म हुआ था। उसने इस प्रक्रिया के लिए सुनहरी प्रतिमा इनाम में ली। उसने प्राणवार्तिक के कुछ अव्यवस्थित ग्रंथों की रचना की। मैंने तिब्बती ग्रंथ पढ़ा और उन्होंने [पंडित और अन्य] इसका हिंदी में अनुवाद किया और पाठ को व्यवस्थित किया। वैदिक दृष्टिकोण के खंडन में तिब्बती ग्रंथ में जहां है "कुत्ते का मांस खाओ" परंतु भारतीय ग्रंथ में केवल "मांस खाओ" है। उन्होंने कहा, "आपके लामा अनुवादक की हमारे प्रति गलत भावना थी, इसलिए उन्होंने यह शब्द डाला।" भारतीय ग्रंथ इस विषय के नैतिक रूप से सही या गलत होने पर कोई प्रकाश नहीं डालता है परंतु, यह सच है कि यह शब्द शाक्य पंडित द्वारा डाला गया था।

एक दिन, उन्होंने [हेमराज] हमें यह बताया कि आधुनिक शोधकर्ताओं को यह ज्ञात हुआ है कि मस्तिष्क वह सब कुछ दर्शाता है जो दिमाग में है। उन्होंने आगे कहा कि मस्तिष्क से, हम बता सकते हैं कि व्यक्ति ज्ञानी है या नहीं, साथ ही उसकी आंतरिक भावनाओं, जैसे कि इच्छा और घृणा को भी हम जान सकते हैं। उनके अनुसार, हम किसी व्यक्ति की शिक्षा या ज्ञान के स्तर को त्रुटि के बिना बता सकते हैं। हालांकि, मस्तिष्क, जो दही की तरह दिखता है, एक निर्जीव वस्तु है।

मस्तिष्क का तत्व जो भावना के लिए जिम्मेदार है, देह से भिन्न होता है। हमने काफी खुशमिजाज चर्चा के साथ दिन बिताया। कुछ मस्तिष्क के इस हिस्से को आलयविज्ञान कहते हैं, जिसका अर्थ है हर प्रकार की जमीनी चेतना। कुछ लोग इसे आकाश कहते हैं, जबकि कुछ इसे आत्मा कहते हैं। इसे न्यूट्रॉन, या नि:स्वार्थ भी कहा जाता है। तथ्य यह है कि यह स्वयं या चेतना (आत्म) है। भारत में, कुछ नए अध्ययन कहते हैं कि "स्व" मस्तिष्क में है और यह स्थायी है (आधुनिक विज्ञान के समान)।

हेमराज लगभग सत्तर साल के थे, भूरे बाल थे और बड़ा पेट। वे बहुत ही मंत्रमुग्ध करने वाली धुन में संस्कृत के श्लोकों का पाठ करते थे। यहाँ तक कि उनके कुछ सेवकों ने भी प्रमाणवार्तिक के बारे में बात की। उन्होंने मुझे बताया कि वे एक असली तिब्बती विद्वान से मिलना चाहते हैं। उन्होंने मुझे द टेकर ऑफ गर्ल्स (गोनों नु मा लेरी)[10] की कहानी सुनाई और मैंने इसे अलग से लिखा है। उन्होंने कहा कि प्रमाण वार्तिक को पढ़कर, कोई भी व्यक्ति जूनुम्लेन के कई आवश्यक अर्थों को समझ सकता है। राजा के दरबार में पुजारी को नियुक्त करना प्राचीन परंपरा थी और यह अब तक चलन में है।

पुजारी वैदिक ग्रंथों को पढ़ता है और राजा के लिए अनुष्ठान करता है, इसलिए उन्हें तिब्बती में 'मादुन ना डॉन' कहा जाता है, जिसका अर्थ है 'वह जो राजा के पास उपस्थित है'। बाद में तिब्बतियों ने शाही मंत्रियों के लिए 'मदुन न डॉन' शीर्षक प्रयोग किया था। लोत्सवा शम्भाला ने टिप्पणी की: "केवल रेडपा (री एमडीए बा) और मैं खुद था जो तिब्बत में लियुल पहचान सकते थे।" यह काफी सच है। आजकल, सभी लोग नेपाल के लिए लियुल की गलतियां बताते हैं कि इस देश अर्थात नेपाल में गोपालगंध सहित हर चीज में लियुल (ली यूल लंग बस्टन) (कंसदेश-व्याकरण) के विषय में जो कहा है सच है। तिब्बती लियूल को खोतान और चीनी झिंजियांग या होटन कहते हैं। इसके पश्चिम में भारत और पूर्व में अमडो है। भारतीय इसे कंसदेश (जेड की भूमि) कहते हैं।

चीनी सम्राट जयांग और उनके मंत्री चांगशो ने एक साथ इस क्षेत्र पर विजय प्राप्त की और वहाँ अपनी राजधानी स्थापित की; कोई भी चीनी इतिहासकारों से पुष्टि के लिए पूछ सकता है। गोमा नदी और युटियन तथा शिति अपने मूल नाम के साथ इस देश में है। गैलो और अन्य लोगों के अनुसार, तिब्बत शिति के दक्षिण में है। ड्रोलुंग्पा (ग्रू लूंग पा) ने कहा, "भारत के पूर्व और पश्चिम में खोतान और नेपाल हैं।" उन्होंने खोतान और नेपाल के विषय में सही कहा है। एक भविष्यवाणी यह हुई थी कि तिब्बत और सुम पा इस भूमि पर विजय प्राप्त करेंगे। इस बारे में, गीतसेन के शासनकाल के लंबे समय के बाद, तिब्बत ने खोतान को जीत लिया और इसे पांच प्रशासनिक प्रभागों में विभाजित किया जिन्हें पांच दस हजार परिवार कहते हैं। यहाँ कई पुराने तिब्बती सेना के शिविरों के खंडहर हैं, जहां पर कई भारतीय और तिब्बती बौद्ध पांडुलिपियों और देवताओं की तस्वीरें हैं जिन्हें समय की रेत से निकाला है। उनमें से कई को भारत ले जाया गया और मैंने देखा कि उन्हें राजधानी शहर में संरक्षित किया गया।

गोश्रन्गा, या लांगरू मंदिर के खंडहर भी खोतान में हैं। वर्तमान में, यह स्थान हेटियन की जन्मभूमि की तरह हो गया है और यह कहा जाता है कि उनके पास वहां एक महत्वपूर्ण पवित्र स्थान है जिसे हामा कहा जाता है।

डोम में हेटियन लोग इस भूमि से आए हैं। लॉन्गचेनपा[11] ग्यांग रंगान चेन को में कहते हैं इचौंग रा मुंग पो (खोतान में) और बाकी सोक्पो के देश में हैं।"यह काफी हद तक सही है।

नेपाल के दक्षिण-पश्चिम में चंद्रग्री पर्वत पार करने के उपरांत , हम जल्द ही भारतीय रेलवे ट्रैक पर आ गए। 32 साल की उम्र में, पिछले सर्दियों के महीने के 18 वें दिन, मैंने गंगा जल पिया। मैंने पूरी सर्दियों को पाटलिपुत्र में एक अजीब भावना के साथ बिताया जैसे कोई मधुमक्खी झील में गिर गई हो।

साभार: द *टिबेट जर्नल*, खंड 37, अंक 4, शिशिर 2012

संदर्भ:

1. *झांग नानम डोरजे वांगचुक (976-1060) ने वर्ष1012 में मंदिर की स्थापना की।*
2. *लाचेन गोंगपा रैपसेल: तिब्बती विनय स्वामी, जिन्होंने नौवीं शताब्दी में विध्वंस की अवधि के दौरान विनय वंश को संरक्षित किया था।*
3. *अंगूठे और माध्यमिका के शीर्ष के मध्य की दूरी*
4. *मध्यममाका-ह्रदय-कारिका का मध्यम संस्करण। यह मूल ग्रंथ है, टीका नहीं*
5. *स्लॉब डपों रिन चेन श्बाईंग गन्स।*
6. *यह ग्रंथ आजकल छात्रों के लिए एक पाठ्यक्रम के रूप में निर्धारित है।*
7. *इसका निर्माण फक-पा (1251-80 ईस्वी) द्वारा किया गया था।*
8. *चिम नमखा द्रक (म्चिम्स नाम मखा ग्रेग, 1210-1285) नर्तंग मठ का सातवाँ मठाधीश था।*
9. *पूरा शीर्षक: तसाद मा बस्तान बकास सडे बदूं ग्नान गई में तोग केस बया बा ब्न्हुंग सो (धर्मकीर्ति के प्रमा गाविन्युक्य पर टीका*
10. *जिशुमलेन (टेकर ऑफ गर्ल्स) वैष्णवों के शिक्षक का एक तिब्बती नाम है। जेफरी हॉपकिंस, मैप्स ऑफ द प्रोफाउंड, (इथाका, एनवाई: स्नो लायन पब्लिकेशन, 2003), 134 देखें।*
11. *कुंकेयन लोंगचेन रामजम (1308-1363), एक प्रमुख वंश और निंयगमा वंश के लेखक।*

तिब्बती बौद्ध कला

तिब्बती मठों में हजारों भित्ति चित्र और बुद्ध और बौद्ध देवताओं की मूर्तियाँ हैं, जैसे कि ग्यारह शीश वाले अवलोकितेश्वर, जिन्हें बुद्ध धर्म में दया का देव माना जाता है। बुद्ध के जीवन की कई घटनाओं को भित्ति चित्र में उकेरा गया है जिसका उद्देश्य है अक्षरज्ञान से वंचित लोगों को उसी प्रकार बौद्ध धर्म की शिक्षाओं के विषय में शिक्षित करना जैसे यूरोपीय चर्चों में ईसामसीह और बाकी संतों के बारे में बताना एक लक्ष्य होता है।

कैथरीन सेलिग ब्राउन ने मेट्रोपॉलिटन म्यूजियम ऑफ आर्ट वेबसाइट में लिखा है: यद्यपि तिब्बत के वृहद भौगोलिक क्षेत्र और इसके पड़ोसी देश जैसे भारत और कश्मीर, नेपाल, बर्मा (म्यांमार) के उत्तरी क्षेत्र, चीन और मध्य एशिया (खोतान) में तिब्बती बौद्ध कला की समृद्ध शैलीगत विविधता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं, फिर भी ग्यारहवीं शताब्दी के अंत में एवं बारहवीं शताब्दी की शुरुआत में, पाल भारत कला और कलात्मक प्रभाव का एक प्रमुख स्रोत बन गया। तेरहवीं शताब्दी में और उसके बाद, नेपाली कलाकारों को तिब्बतियों के लिए थंका बनाने और मूर्तियों का निर्माण करने के लिए एकत्र किया जाने लगा था। चौदहवीं शताब्दी तक, नेपाल और चीन से आए हुए शैलीगत प्रभाव मुख्य हो गए और पंद्रहवीं शताब्दी में ये सभी तिब्बती संस्कृति में रच बस गए।

"यद्यपि कई भिक्षु कलाकार थे, लेकिन ऐसे भी कलाकार थे जिन्होनें कई मठ तक की यात्रा की और कुछ अपवादों के अतिरिक्त यह बताना अत्यंत ही कठिन था कि किसी मठ या संप्रदाय की शैली कौन सी थी। अधिकतर कलाकार अज्ञात थे एवं उनकी कलाकृतियों पर शायद ही उनका कोई संकेत था, यद्यपि नाम कई ग्रंथों में, मठ की दीवारों पर भित्ति चित्रों में, और कुछ थांका एवं कांस्य मूर्तियों में अभी भी है। तिब्बती कलाकारों के अतिरिक्त भारतीय, नेपाली, मध्य एशियाई और चीनी कलाकारों के नाम भी उपस्थित थे। ■

सोनाली मिश्रा

तिब्बत में रामकथा

भारत में रचित कालजयी महाकाव्य रामायण और इसकी मूलकथा ने सदियों पहले ही देशों की राजनीतिक और सांस्कृतिक सीमाएं पार कर अनगिनत रंग-रूप ले लिए हैं। तिब्बत, जो कि हमारा निकटतम पड़ोसी है और सांस्कृतिक रूप से अभिन्न भी, इससे कैसे अलग हो सकता था! तिब्बत में यही रामकथा थोड़े भिन्न रूप में मौजूद है। एक तुलनात्मक अध्ययन

राम, तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।

जब साकेत में मैथिली शरण गुप्त ने यह लिखा था तो संभवतया उन्होंने यह पूरे विश्व में अपने बृहद रंग में रंगी हुई रामकथाओं को संज्ञान में लेकर लिखा होगा, या यदि नहीं तो रामकथा की व्यापकता को देखते हुए यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि राम का चरित्र ही स्वयं में एक काव्य है, राम के चरित्र से सहज ही प्रभावित होकर रामकथा ने विश्व के हर कोने में यात्रा पूर्ण की है। आदि कवि वाल्मीकि ने भी रामकथा को रामायण का नाम दिया अर्थात राम +अयन अर्थात राम का गतिशील रूप। अयन का अर्थ है, यात्रापथ संबंधित। राम नाम की यात्रा। राम का नाम कहाँ से आरंभ हुआ, रामकथा अनवरत चलती रही। वेदों से निकल कर पुराणों में आई। आदि कवि वाल्मीकि ने भी जब रामकथा को लिखा होगा तो उन्होंने भी यह कल्पना नहीं की होगी कि रामकथा अपनी लोकप्रियता की सीमाएं पार कर संपूर्ण विश्व में सर्वथा नए-नए रूपों में जाएगी। रामकथा ने मात्र उत्तर के मैदानों पर या दक्षिण के पठारों में ही स्वयं का नया प्रारूप प्राप्त नहीं किया अपितु जब वह तिब्बत की तरफ गई तो सर्वथा नए रूप में पाठकों के सम्मुख आई। रामकथा की इस यात्रा का प्रारूप अत्यंत ही रोचक है एवं कतिपय स्थानों पर उत्तर की रामायण से सर्वथा पृथक।

वाल्मीकि रामायण में अयोध्या का वर्णन है कि
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्।।[1]

अर्थात यह नगरी है जिसे मनु ने स्वयं अपने हाथों से बसाया था। क्या मनु द्वारा बसाई गई नगरी की भव्यता तिब्बत तक पहुँचते-पहुँचते परिवर्तित हो जाती है या ज्यों की त्यों रहती है। तिब्बत में जो रामायण मिलती है उसमें भी रावण है, और दशग्रीव है। हम सभी ने वाल्मीकि रामायण में पढ़ा कि किस प्रकार राजा जनक को सीता भूमि के नीचे प्राप्त हुई थीं। तिब्बत की रामायण में सीता रावण की पुत्री हैं, जिसके विषय में यह कहा गया कि यह अपने पिता के लिए दुर्भाग्य का कारण बनेगी। रावण अर्थात दशग्रीव उसे पानी में बहा देता है। और वह एक भारतीय किसान को अपने खेत में तब मिलती है जब वह पानी देने जा रहा होता है। तथा वह उसका नाम रखता है रोल नेंद मा- (Rol-rned-ma)[2] कहीं न कहीं यह मूल है कि वह कहीं से आई हैं, तिब्बत में यह स्पष्ट है कि सीता दशग्रीव की पुत्री हैं। जबकि वाल्मीकि रामायण में सीता का प्रकटन है।

दशग्रीव की लंका के साथ ही यह रामायण आरंभ होती है। लंकापुर के विवरण के साथ यह कहानी आरंभ होती है। लंकापुर में दैत्यों का शासन है और यह लंकापुर सागर में एक द्वीप पर है। जो वाल्मीकि की लंका ही है।

वहां का राजा यागाकोरे तीनों लोकों पर राज कर रहा है तथा उसे किसी भी देव या मानव द्व ारा मृत्यु के घाट नहीं उतारा जा सकता है। फिर समस्त देव मिलकर विसर्वास एवं श्री देवी से अनुरोध करते हैं कि वह एक ऐसे पुत्र को जन्म दें जो उसे पराजित करने में सक्षम हो। उसके उपरांत उन दोनों की मुस्कान के परिणामस्वरूप एक पुत्र का जन्म हुआ। उसने सभी दैत्यों को मार दिया बस मल्यापंत जो कि यागाकोरे का नवजात था उसे छोड़ दिया।

रत्न नामक ब्राह्मण ने उस नवजात को उसके वंश एवं दैत्यों के संहार के विषय में बताया। जिसे सुनकर वह प्रतिशोध लेने के लिए व्यग्र हो उठा एवं उसने एक ऋषि की सहायता

ली जो ब्रह्मा के पुत्र थे। मल्यापंत ने अपनी पुत्री मेकेसिना का विवाह स्वप्सिन के साथ कर दिया। उनके विवाह से तीन संतानें हुई। दशग्रीव, उद्पाकन, एवं बिरिन्सा। ब्रह्मा ने दशग्रीव को दस शीश दिए। मल्यापंत ने उन्हें लंकापुर जाने का आदेश दिया और तीनों पुत्रों ने यही किया।

तीनों पुत्रों ने महादेव से देवों पर सत्ता प्राप्त की। उन्होंने देवताओं को पराजित किया एवं लंकापुर में उपस्थित समस्त देव एवं मानवों का संहार किया। परंतु इतने पर भी देवताओं के संपूर्ण संहार में सक्षम नहीं थे। अत: उन्होंने ब्रह्मा से तीन शक्तियां मांगी। यह कि वह जिस पर भी तीर चलाएं वह मृत्यु को प्राप्त हो, जबकि वे स्वयं अमर हों और तीनों लोकों पर उनकी सत्ता हो। यद्यपि ब्रह्मा ने इसे पूर्णतया अस्वीकृत कर दिया। उसके उपरांत इन पुत्रों ने महादेव से स्वयं के लिए चमत्कारिक शक्तियाँ माँगी। यद्यपि दशग्रीव ने अपना एक शीश उन्हें समर्पित कर दिया, परंतु फिर भी महादेव ने उन्हें किसी भी प्रकार की चमत्कारिक शक्ति देने से इनकार कर दिया।

उनकी पुकार पर महादेव की पत्नी ने अपनी शक्तियाँ देने का प्रस्ताव रखा, परंतु उन्होंने उस शक्ति को नहीं लिया। उस पर कुपित होते हुए महादेव की पत्नी ने शाप दिया कि आज वह एक स्त्री की सहायता नहीं ले रहा है, पर वह एक स्त्री के कारण ही विनाश को प्राप्त होगा। फिर उन्हें महादेव के मंत्री ने अपनी चमत्कारिक शक्तियाँ देने के लिए कहा, जिसे उन्होंने एक बार पुन: लेने से इनकार कर दिया। उस पर महामंत्री ने कुपित होते हुए शाप दिया कि वह एक बंदर के हाथों विनाश को प्राप्त होंगे। परंतु उन्हें अपने वर महादेव से ही मांगने थे, तो वह महादेव से प्रार्थना निरंतर करते थे। यह सब देखकर वाणी की देवी ने स्वयं को सूक्ष्म रूप से उनकी जिह्वा पर स्थापित किया और उनकी इच्छाएं बदल दीं। उन्होंने तीन वर मांगे। देवों पर सत्ता, जो भी उनके तीर की चपेट में आए उसकी मृत्यु, तथा जब तक दशग्रीव का घोड़े का सिर न कट जाए, तब तक अमरता।

महादेव से ये तीनों वर प्राप्त करने के उपरांत वे तीनों ही निर्विघ्न होकर देवों और मानवों का संहार करने लगे। पूरी सृष्टि उनके अत्याचार से कराह उठी। देव शीघ्र ही विष्णु की शरण में गए और उनसे गुहार की। विष्णु ने उनकी प्रार्थना सुनी और दशरथ के पुत्र रामान के रूप में अवतरित हुए। दशग्रीव के विनाश के लिए एक देवी ने दशग्रीव की पत्नी के गर्भ में प्रवेश किया।

वाल्मीकि रामायण में हम देखते हैं कि जब राजा दशरथ ने पुत्र कामना हेतु यज्ञ किया तो उन्हें प्रसाद के रूप में खीर प्राप्त हुई थी। रामायण के इस संस्करण में यह प्रसंग है, परंतु उसमें प्रसाद के रूप में खीर न होकर पुष्प है। इसमें वर्णित है कि जम्बूद्व ीप के राजा दशरथ एक पुत्र की कामना हेतु पांच सौ अर्हतों के सम्मुख प्रार्थना लीन थे। उन्होंने उन्हें एक पुष्प दिया कि वह अपनी महारानी को दे दें। महारानी ने वह पुष्प अपनी छोटी रानी को भी दिया। उसके उपरांत छोटी रानी के गर्भ से रामान का जन्म हुआ तो वहीं महारानी के गर्भ से तीन दिनों उपरांत लग्सन ने जन्म लिया।

इधर दशग्रीव की पत्नी के गर्भ से उस कन्या ने जन्म लिया, जो अपने पिता के लिए शुभ नहीं थी। दशग्रीव ने उसे एक तांबे के बक्से में रखा और बहा दिया, जहाँ से वह एक भारतीय किसान को प्राप्त हुई।

राजा दशरथ एक युद्ध में घायल हुए और वह यह निर्धारित नहीं कर पा रहे थे कि किसे शासन दें। रामान ने राजकाज स्वीकारने से इनकार कर दिया और लग्सन को उत्तराधि कारी घोषित कर दिया जाता है। राजा दशरथ की मृत्यु हो जाती है। परंतु लग्सन राजकाज नहीं संभालते हैं, और रामान की पादुकाओं को सिंहासन पर रखकर शासन करते हैं, वह स्वयं मंत्री के रूप में कार्य करते हैं। रोल र्नेद माँ- (Rol-rned-ma) विवाह योग्य होती हैं तथा किसान रामान को ही उनके योग्य मानते हैं। रामान उसे स्वीकार करते हैं तथा विवाह उपरान्त उनका नाम सीता रखते हैं।

दशग्रीव के अत्याचार दिनोंदिन बढ़ते जाते हैं और उसका मंत्री पांच सौ ब्राह्मण को सिद्धि प्राप्त करने से रोकता है। रामान मारुत्से पर एक अंगूठी फेंकते हैं तथा उसकी एक आँख घायल हो जाती है ब्राह्मणों को उनकी सिद्धि मिलती है और वह रामान को यह वर देते हैं कि जो भी उनके तीर से मरेंगे, उन्हें देवताओं के रूप में जन्म मिलेगा। दशग्रीव की बहन फुर्प्ला रामान पर आसक्त हो जाती है तथा वह रामान से विवाह करने के लिए कहती है। सीता से अत्यधिक प्रेम करने के कारण रामान उसे अस्वीकार कर देते हैं। तब प्रतिशोध के चलते वह अपने भाई दशग्रीव से सीता का अपहरण करने के लिए कहती है। मारुत्से स्वयं को हिरन में बदल लेता है और सीता के सम्मुख आता है। सीता रामान से उसे लाने का हठ करती हैं और रामान हिरन को पकड़ने जाते हैं। जैसे ही रामान उस मृग पर तीर चलाते हैं, वह चीखता है, "ओ लग्सन"। यह सुनकर सीता लग्सन को राम की खोज में भेजती हैं। लग्सन यद्यपि जाना नहीं चाहते हैं, फिर भी वह जाते हैं।

इधर जैसे ही सीता अकेली होती हैं, दशग्रीव आता है और जब सीता घोड़े या हाथी पर भी बैठने के लिए तत्पर नहीं होती हैं तो वह भूमि सहित ही उठाकर ले जाता है।

रामान और लग्सन जब वापस आते हैं तो उन्हें सीता नहीं मिलती हैं। सीता की तलाश में उन्हें वानरराज सुग्रीव मिलते हैं, जिन्हें उनके भाई बालि ने घर से निकाल दिया

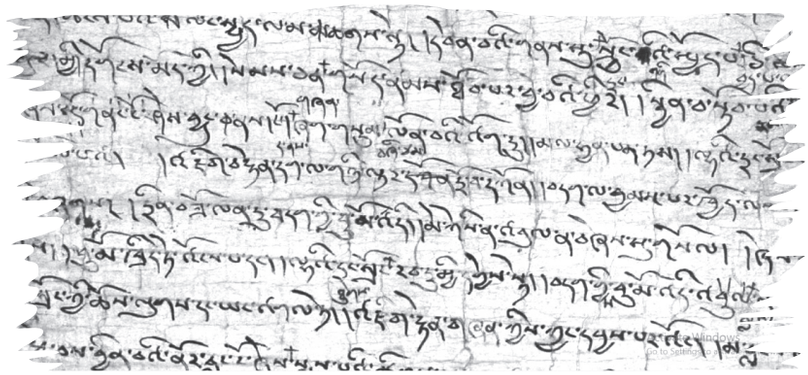

एक तिब्बती पांडुलिपि
साभार: https://images.assettype.com/indynetwork%2F2019-01%2F74d48af4-dd12-401c-9b1e-716313edb529%2FUntitled.png?w=1170

होता है। रामान सुग्रीव को वचन देते हैं कि यदि वह उन्हें सीता की तलाश में सहायता करेंगे तो वह उन्हें राजा बनाएंगे। सुग्रीव और बालि में युद्ध होता है, परंतु एक सा चेहरा होने के कारण रामान पहचान नहीं पाते हैं और एक बार पुनः बालि को युद्ध के लिए सुग्रीव से ललकारने के लिए कहते हैं। बालि की पत्नी उससे अब युद्ध न करने के लिए कहती है। परंतु वह नहीं मानता और जब अगले दिन युद्ध होता है तो सुग्रीव की पूंछ में एक आईना संलग्न होता है। इस बार बालि मारा जाता है।

जहां वाल्मीकि रामायण में सुग्रीव के गले में हार का उल्लेख है वहीं इसमें अंतर यह है कि इसमें सुग्रीव की पूंछ में दर्पण है। इसके उपरांत इस रामकथा में वनवास नहीं है। दशरथ की रानियों की भी संख्या कम है। मात्र दो ही रानियाँ हैं और राजा दशरथ के दो ही पुत्र हैं।

सीता की तलाश के लिए राम द्वारा सुग्रीव द्वारा कदम उठाए जाने की प्रतीक्षा अवधि भी भिन्न है। वाल्मीकि रामायण में यह कुछ दिनों की है तो इस रामायण में यह तीन वर्षों की अवधि है। तीन वर्षों की प्रतीक्षा के उपरांत रामान सुग्रीव को चेतावनी देते हैं कि सीता की तलाश आरंभ की जाए, नहीं तो उसकी परिणति भी बालि जैसी ही होगी। पाग्सू, सिंदू, और हनुमंता सीता की तलाश में जाते हैं और फिर उन्हें ज्ञात होता है कि सीता लंका राज में हैं। हनुमान रामान का दिया हुआ पत्र एवं अंगूठी लेकर लंका में जाते हैं और देखते हैं कि सीता एक वाटिका में बैठी हैं। हनुमान सारी वाटिका के फल आदि तोड़ते हैं और शीघ्र ही दशग्रीव का पुत्र उन्हें पकड़ लेता है। हनुमान की पूंछ में आग लगाई जाती है और इस प्रकार वह पूरी लंका जला देते हैं। हनुमान यह सब करने के उपरांत सीता के पास आते हैं और सीता से पत्र लेकर रामान के पास जाते हैं।

सीता का समाचार पाते ही राम प्रसन्न हो जाते हैं एवं लंका पर चढ़ाई की तैयारी आरंभ होने लगती है। लंका पर चढ़ाई के उपरांत युद्ध में कुंभकरण को हजारों हाथियों को उसके शरीर पर चलवाकर और हजारों ढोल बजवाकर उठाया जाता है। दशग्रीव का भाई रामान की सेना में विध्वंस करता है एवं शीघ्र ही सभी बंदरों और मानवों को निगल कर सो जाता है। फिर अंपाकर्ण की सलाह पर हनुमंता को कैलाश से एक बूटी लाने के लिए भेजा जाता है। अमृत-संजीव! वह पूरे पर्वत के साथ ही ले आते हैं।

यहाँ पर वाल्मीकि रामायण की तुलना में कहानी एकदम अलग है। पर्वत को लाने का तो वर्णन है परंतु संदर्भ पृथक है। इस रामायण में लग्सन की मृत्यु हो जाती है और सुग्रीव की भी। जबकि लक्ष्मण की मूर्छा का उल्लेख अवश्य है वाल्मीकि रामायण में, जो इसमें नहीं है, रामान द्वारा दशग्रीव के अश्व सिर को काटकर वध करने का उल्लेख है। परंतु विभीषण द्वारा मृत्यु का रहस्य बताने का उल्लेख नहीं हैं।

इसी प्रकार सीता के वनवास के संदर्भ में भी यह रामायण भिन्न है। रामान लिच्छवी विमाला और उसकी पत्नी के बीच हुए सम्वाद को सुनते हैं जिसमें वह कहता है कि सीता की तरह वह उसे क्षमा नहीं करेगा। रामान इसे सुनकर क्रोधित होते हैं और उस स्त्री से स्त्री के स्वभाव के विषय में पूछते हैं। उस स्त्री से बात करने पर वह इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि सीता का संबंध अवश्य ही दशग्रीव के साथ रहा है तथा वह सीता को घर से निकाल देते हैं।

इस रामायण में अश्वमेध युद्ध का उल्लेख नहीं है। सीता, एवं लव कुश को महल वापस लाने का उत्तरदायित्व इस रामायण में हनुमंत निभाते हैं। जब एक दिन हनुमंत महल में आते हैं तो उन्हें सीता को न पाकर हैरानी होती है और वह पूछते हैं कि अंततः सीता कहाँ हैं? रामान पूरी कहानी बताते हैं। हनुमंत दुखी होकर रामान को उनकी गलती का अहसास कराते हैं एवं अंततः रामान सीता और लव कुश के साथ वापस आते हैं एवं हंसी खुशी रहते हैं।[3]

तिब्बत की यह रामकथा, राम की व्यापकता के साथ ही संस्कृति की एक यात्रा को परिलक्षित करती है। राम का स्वरुप स्वयं में इतना भव्य है कि चरित्र का सृजन लघु स्तर पर नहीं हो सकता, जब राम को रचा जाता है तो उसमें मूल्य एवं गुण स्वतः ही आ जाते हैं। तिब्बत की यह रामकथा वर्ष 787 से 848 तक की अवधि में सृजित प्राप्त होती है। यह तुंग-हवांग में लिखी गई है। तथा जो पांडुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, उन्हें ए, बी, सी, डी, ई तथा एफ श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

तिब्बती भाषा में लिखी गई रामायण में बौद्ध धर्म का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। जैसे दशरथ अर्हतों के समक्ष प्रार्थनारत हैं, अर्हत अर्थात, जिसने निर्वाण प्राप्त किया है और जो मोह से मुक्त हो गया है।

जो भी अंतर कथा में प्राप्त होते हैं, वह एक कथा की सहज यात्रा का हिस्सा हैं। कथा मूल में वही है, राम हैं, रावण है, तथा राम एवं रावण के मध्य युद्ध है। धर्म एवं अधर्म के मध्य संघर्ष है, इसी संघर्ष में धर्म एवं सत्य की विजय है।

इसी के साथ इस कथा में कई चरित्र नहीं हैं, जैसे जटायु नहीं हैं। वाल्मीकि रामायण में जटायु मार्ग दिखाते हैं और सीता के अपहरण के विषय में बताते हैं, परंतु इस कथा में उन्हें सुग्रीव की आँखों, नाक एवं मुंह से आता हुआ काला पानी मिलता है।

यह कथा भारत की आत्मा की एकरूपता को स्थापित करती है। यह कथा इस तथ्य पर भी विस्तार से प्रकाश डालती है कि रामकथा ने वेदों से लेकर आधुनिक काल तक एक लंबी यात्रा तय की है। रामकथाओं ने बार-बार भारत को एक राष्ट्र स्वयमेव घोषित किया है।

राम मात्र अयोध्या के ही नहीं हैं, वह हमारी संस्कृति हैं।

सुदूर तिब्बत में रामकथा संस्कृति के समृद्ध रूप का प्रतिबिंब है। यद्यपि तिब्बत में ही रामकथाओं में विविधता प्राप्त होती है। परंतु कथा के जीवित रहने का आधार हर भाषा में उसका विविध प्रस्तुतीकरण ही है। तिब्बत में जिस प्रकार रामकथा के विभिन्न प्रकार प्राप्त होते हैं, उनसे यह भी स्थापित होता है कि बहुत कुछ शोधकार्य रामायण पर किया जाना है। तथा राम के हर रूप को पाठकों के सम्मुख लाना है।

संदर्भः

1. *(वाल्मीकि रामायण बाल सर्ग 1/5/6)*
2. *Asian Variations in Ramayana: Papers Presented at the International Seminar ./Sahitya Akademy, 2003, page-164*
3. *https://www.jstor.org/stable/4527910?read-now=1&seq=10#page_scan_tab_contents*

तिब्बती लोककथा

मनुष्य और भूत

आपको धूप चाहिए तो आपको अपने दोस्त की वापसी की इच्छा रखनी चाहिए

तिब्बती कहावत

एक समय की बात है एक व्यक्ति एक संकरे पर्वत पथ से होकर गुजर रहा था, कि तभी उसकी मुलाकात एक भूत से हुई। वह भूत उसकी तरफ मुड़ा और उसके साथ साथ चलने लगा। वह व्यक्ति अत्यंत भयभीत हो गया, परंतु उसने भूत को यह पता नहीं लगने दिया। जल्द ही वे उस नदी पर आए, जिसे उन्हें पार करना था और वहां पर न ही कोई पुल था और न ही कोई नाव! उन्हें उसे तैर कर पार करना था। उस व्यक्ति ने खूब शोर मचाया, और पानी में पैर मारे और छप छप की जबकि भूत ने कुछ नहीं किया।

भूत ने उस व्यक्ति से कहा "तुम पानी में इतना शोर क्यों मचा रहे हो?"

उस व्यक्ति ने उत्तर दिया "ओह, मैं तो एक भूत हूँ, और मेरे पास जितना चाहूँ उतना शोर मचाने का अधिकार है!"

"ठीक है" भूत ने उत्तर दिया "मान लो कि हम दोनों अच्छे दोस्त हैं और अगर मैं तुम्हारी सहायता कर सकूं तो मैं करूंगा और अगर तुम मेरी सहायता कर सकोगे तो तुम मेरी सहायता करोगे।"

वह व्यक्ति तैयार हो गया और जब वह साथ चल रहे थे तो भूत ने पूछा कि उसे इस विश्व में सबसे ज्यादा भय किससे लगता है। उस व्यक्ति ने कहा कि उसे आज तक किसी से भी भय नहीं लगा है। फिर उसने भूत से पूछा कि उसे किससे भय लगता है। उस भूत ने कहा "वैसे तो किसी से नहीं, मगर मुझे उस हवा से बहुत भय लगता है जो खाली खेतों से होकर बहती है।"

और फिर वह ऐसा करते करते वह एक शहर के पास आ गए और फिर भूत ने कहा कि वह शहर में जा रहा है। मगर उस व्यक्ति ने कहा कि वह बहुत थक गया है और वह अब शहर के किनारे पर जो खाली मैदान हैं वहां पर सोना चाहेगा। भूत शहर में गया और उसने तबाही मचा दी। फिर वह राजकुमार की आत्मा चुराने चला गया और उसने उसे एक याक के बाल से बांधा और वह उसे उस खाली मैदान तक लाया जहां पर वह व्यक्ति लेटा हुआ था। उसने उस व्यक्ति से कहा "इस थैले में राजकुमार की आत्मा है। मैं इसे कुछ देर के लिए छोड़कर जा रहा हूँ, तुम इसका ध्यान रखना क्योंकि मुझे कुछ काम हैं कहीं पर।"

ऐसा कहकर भूत ने बोरा नीचे रखा और वह चला गया। उस व्यक्ति ने खुद को एक पवित्र लामा के रूप में बदल लिया और वह भिक्षा मांगने लगा। उसने अपना भिक्षा पात्र और वह बोरा उठाया और शहर की तरफ चल पड़ा। उसने सुना कि राजकुमार अपनी अंतिम साँसे गिन रहा है। अब उसे तो ज्ञात ही था कि वास्तविक कारण क्या है। अत: वह महल में ही भिक्षा मांगने गया। राजा के एक दरबारी ने उससे कहा कहा "तुम एक पवित्र व्यक्ति हो; संभवतया तुम ही हो जो राजकुमार को स्वस्थ कर सकते हो!" उस व्यक्ति ने कहा कि वह प्रयास करेगा!"

जब वह राजा से मिला तो राजा ने उससे कहा, "यदि तुम मेरे पुत्र को स्वस्थ कर सकते हो तो मैं तुम्हें वह सब कुछ आधा आधा दूंगा जो मेरे पास है। जैसे जमीन, सोना, जानवर और सब कुछ!" तो उस व्यक्ति ने याक का बाल उस थैले से खोला और जमीन पर उसी तरह से पैर मोड़कर बैठ गया जिस प्रकार बौद्ध भिक्षु बैठते हैं। उसने बोरा खोला और आत्मा को बाहर आने दिया, फिर उसने बोरे का मुंह नौ गांठों से बांधा और उसमें साँसों से हवा भरी। उसने कई मंत्र और प्रार्थनाएं भी पढीं और जब वह बात कर रहा था तभी राजा के पास यह समाचार आया कि उसका पुत्र ठीक हो रहा है। पिता अत्यंत ही प्रसन्न हुआ, उसने अपने वादे को ध्यान में रखा तथा उस व्यक्ति को अपनी संपत्ति में से आधी संपत्ति दे दी। वह भूत कभी भी वापस नहीं आया और न ही यह दावा किया कि वह कोई थैला या बोरा उसके पास छोड़ गया था। उस व्यक्ति ने सोचा "संभवतया मनुष्य और भूत के मध्य समझौते की ऐसी ही परंपरा है।"

http://mythfolklore.blogspot.com/2014/02/tibetan-folk-tales-tiger-and-frog.html

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

'मंथन' की सदस्यता लें

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से प्रकाशित शोध त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' की सदस्यता लें। भारत–विचार–दर्शन पर केंद्रित इस पत्रिका की सदस्यता के लिए व्यक्ति/संस्थान कृपया निम्न पते पर सूचित करें और शुल्क एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के नाम से स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, एकाउंट नं. 10080533188, आईएफएससी–एसबीआईएन0006199 में जमा करें।

सदस्यता विवरण

नामः.....

पताः .....

..... राज्यः ..... पिनकोड : .....

लैंड लाइनः ..... मोबाइलः (1)..... (2).....

ई मेलः .....

जन–मार्च 2019 से पुनर्निधारित मूल्य

	भारत में	विदेश में
एक प्रति	₹ 200	US$ 9
वार्षिक	₹ 800	US$ 36
त्रिवार्षिक	₹ 2000	US$ 100
आजीवन	₹ 25,000	

प्रंबध संपादक

'मंथन' त्रैमासिक पत्रिका

28, मीना बाग, मौलाना आजाद रोड., नई दिल्ली–110 011

दूरभाषः 9868550000, 011–23062611

ई–मेलः manthanmagzin@gmail.com, ekatmrdfih@gmail.com